काव्य सम्प्रदाय

लेखक

श्री अशोककुमारसिंह

वेदालंकार, प्रभाकर, एम० ए०, एल० टी०

प्रकाशक

ओरिएण्टल बुक डिपो

१७०४, नई सड़क, दिल्ली

ब्रान्च:—प्रताप रोड, जालन्धर

प्रकाशकः—

ओरिएण्टल बुक डिपो

नई सड़क, दिल्ली

822.H/43.

Revised मूल्य Price Rs 3/-/-

132275

मुद्रक

विश्व भारती प्रेस

पहाड़गंज, नई दिल्ली

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
भूमिका	क से ठ
भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास	३
रस-सम्प्रदाय	२७
अलंकार-सम्प्रदाय	७५
रीति-सम्प्रदाय	८१
ध्वनि-सम्प्रदाय	८८
वक्रोक्ति-सम्प्रदाय	१२९

भूमिका

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ।। मम्मटाचार्य ।।

"यदि मुझे निखिल विश्व में से एक ऐसा देश, जिसे प्रकृतिदेवी ने अपने अमित वैभव, शक्ति और सौन्दर्य से विभूषित किया है, भू पर स्वर्गोपम रचा है, ढूँढना पड़े तो मैं भारत की ओर संकेत करूँगा । यदि मुझसे पूछा जाय कि वह कौनसा आकाश-खण्ड है जिसके नीचे मानवीय प्रतिभा ने अपने सर्वोत्तम वरदानों का सर्वश्रेष्ठ उपयोग किया है, जीवन के शाश्वत एवं गूढ़तम प्रश्नों की तह में पहुँचने का सफल प्रयास किया है और उनमें से कइयों का प्रामाणिक समाधान, जो कि प्लेटो और काण्ट के अध्येताओं तक का ध्यान आकृष्ट कर सके, प्रस्तुत किया है—तो मैं भारत की ओर संकेत करूँगा । और यदि मैं स्वयं ही अपने से प्रश्न करूँ कि हम योरुपवासी, जो कि लगभग समग्रत: ग्रीक, रोमन और एक सेमेटिक यहूदी जाति की विचार-धाराओं पर पालित-पोषित हुए हैं; कौन से 'साहित्य' से उस अनिवार्यरूपेण वाञ्छित स्फूर्ति को प्राप्त कर सकते हैं जो हमारे आन्तरिक जीवन को अधिक पूर्ण, व्यापक, विश्वजनीन और वस्तुतः—न केवल इस जीवन को अपितु परवर्ती शाश्वत जीवन को भी—अधिक मानवीय बना दे—तो मैं पुनरपि भारत का ही निर्देश करूँगा ।"—मैक्समूलर ।

ये उद्गार पौरस्त्य विद्याओं एवं साहित्य के विख्यात मर्मज्ञ, पाश्चात्य विद्वान् श्री मैक्समूलर के हैं । किसी भी देश और उसके दार्शनिक मीमांसा-शास्त्र और साहित्य के विषय में इससे अधिक

गौरवपूर्ण शब्दावली का प्रयोग सम्भवतः आज तक किसी प्रामाणिक आलोचक द्वारा नहीं किया गया। उक्त संक्षिप्त सम्मति का महत्त्व इस कारण कहीं बढ़ गया है कि यह एक ऐसे विदेशी विद्वान् के दीर्घकालीन अध्ययन का निष्कर्ष है, जिसने अपने जीवन का अधिकांश समय संसार के साहित्यमहोदधि का तुलनात्मक अवगाहन करने में व्यतीत किया है। आज का स्वतन्त्र भारत इसी साहित्य का एकमात्र उत्तराधिकारी है।

संस्कृत-साहित्य संसार के प्राचीनतम साहित्य-संग्रहों में से अन्यतम है। इसके विषय में अब तक, निश्चित रूप से, यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें कितनी सहस्राब्दियों के मनीषियों की चिन्तन-साधना का 'सत्' सञ्चित है। इस अक्षय ज्ञाननिधि की, जैसा कि मैक्समूलर के उद्गारों से स्पष्ट है, आवश्यकता केवल भारत-सन्तान के लिए ही नहीं, अपितु विश्व के 'मानव' को 'मानवीय' बनाने के लिए भी है। तो एक राष्ट्रीय प्रश्न हमारे सामने आता है—क्या स्वतन्त्र भारत इस दुष्प्राप्य महानिधि को सुरक्षित रख सकेगा?

आज के मानव का अग्रणी, वह मानव! और उसकी नवेली सहचरी पाश्चात्य सभ्यता!! कौन नहीं जानता कि पाश्चात्य सभ्यता का लाड़ला यह मानव आज अपनें वैभव के सर्वोच्च शिखर पर आसीन है? महायन्त्र-प्रवर्तन की अपार क्षमता और आणविक शस्त्रास्त्रों की कल्पनातीत शक्तिमत्ता के अनुपम वरदानों ने उसके मन में 'प्रकृति-प्रिया' के हठात् वरण की अदम्य आकांक्षा उद्दीप्त कर दी है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस वृद्ध विश्व की चिर अभिलाषा की तृप्ति का वह स्वयंवर-समारोह, जिसमें हठीली प्रकृति को 'मानव' के गले में विजयमाला डालनी पड़ेगी, सर्वथा निकट आ गया है। ऐश्वर्यों का स्वामी 'मानव' राजसूय यज्ञ की पूर्णाहुति सम्पन्न कर 'शतक्रतु' की पदवी पाने को है; और यह विजय-वैजयन्ती पुष्प-पंखुड़ियों को नभ से बिखेरती हुई फहराना

ही चाहती है।……परन्तु अरे! इस शुभ घड़ी में यह शंका कैसी? क्या कहा—'अधूरा मानव!' हाँ; ग्रीक, रोमन और एक सेमेटिक जाति यहूदी के सम्पूर्ण साहित्य की 'मिश्रित खुराक' पर पोषित होकर भी यह मानव अधूरा ही है। सम्भव है, लक्ष्यभ्रष्ट होकर वह मानवता का ही संहार कर बैठे। तब यह स्वयंवर-समारोह विश्व-श्मशान के रूप में परिणत हो जायेगा।

तब मानवता की रक्षार्थ भावनाओं के परिष्कार का आयोजन आवश्यक है। विश्व-शान्ति का आधार पारस्परिक सद्भावनाएँ ही हो सकती हैं। कलात्मक साहित्य, समन्वय-प्रधान दर्शन और 'सर्वभूतहितेरतः' वाली आध्यात्मिक विचारधारा भावनाओं को उदात्त बनाने में अमोघ मानी जा सकती है। यदि शुष्क एवं बुद्धिमूलक विज्ञान के अध्ययन ने आज के मानव को हृदयहीन बना दिया है तो कलात्मक साहित्य अपनी मोहक माधुरी से उसमें सच्ची सहृदयता की चेतना फूँक सकता है। यह कहना अतिचार न होगा कि संस्कृत-साहित्य में मानवीय भावनाओं के परिष्करण की अनुपम क्षमता है। विश्व के दूसरे महान् सत्साहित्यों के समानान्तर संस्कृत-साहित्य मानवीयता के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योग दे सकता है; इसमें सन्देह नहीं।

विश्व और मानवता के लिए संस्कृत का पुरातन साहित्य बड़ा उपयोगी है; यह माना जा सकता है। परन्तु नवोदित भारतीय राष्ट्र के लिए इसकी क्या महत्ता है? यह प्रश्न भी गम्भीरता से विचारणीय है।

संस्कृति भूतकाल की प्रगति का जातीय प्रवाह है, जिसका 'प्रवेग' जाति को भविष्य के पथ पर अग्रसर करता है। इस प्रवाह में वह सभी कुछ शामिल रहता है, जो भूत में जाति के मार्ग में आ उपस्थित होता आया है। और उस 'समग्र' का प्रत्येक अंश प्रवाह के 'प्रवेग' से शक्ति

प्राप्त कर उसी प्रवाह को इस प्रकार से 'प्रवेग' प्रदान करता है, जिससे जातीय आचार-विचार की धारा एक सुनिश्चित दिशा में प्रगतिशील हो उठती है । इस प्रकार संस्कृति का मूल तत्त्व प्रवेग या "प्रगति के लिए सुनिश्चित आतुरता" है । यह आतुरता 'प्रवाह' की संसक्ति अथवा एकता पर निर्भर है । यदि जातीय प्रवाह में संसक्ति (एकनिष्ठता) न रहे तो जाति छिन्न-भिन्न हो बिखर जाती है । फलतः सामूहिक जीवन का विकास अवरुद्ध हो जाता है । इसीलिए जातीय उत्थान और प्रगति के लिए संस्कृति की आवश्यकता होती है ।

भारतीय राष्ट्र लगभग एक सहस्राब्दिपर्यन्त राजनैतिक अधःपतन के महागर्त में निमग्न रहा । इस महागर्त से हमारे राष्ट्र का उद्धार कैसे हुआ ? यह एक सांस्कृतिक एकता की सूक्ष्म शक्ति की विजय की रहस्यमयी कहानी है । भारतीय संस्कृति के प्रवेग में से तिलक, ऋषि दयानन्द, मालवीय, रवीन्द्र और गाँधी जैसे महापुरुष सामने आये; जिन्होंने राष्ट्र के जातीय प्रवाह की अतुलित शक्ति को पहिचान लिया और उसे काम में लाये; जिसका फल यह हुआ कि आज भारतीय राष्ट्र उत्तप्त भट्टी में से तपकर निष्पन्न कञ्चन की तरह अवदात होकर नव अरुणोदय के रूप में जगती के रङ्गमञ्च पर सहसा आ खड़ा हुआ है । अब उसे मानवीय संस्कृति के विकास तथा आत्म-अभ्युदय के लिए अपनी कला का प्रदर्शन करना है ।

राष्ट्रनायक जवाहरलाल के शब्दों में यदि कहा जाय तो आज दिन भारतीय राष्ट्र को सर्वोपरि जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है—'राष्ट्रीय एकता' । परन्तु यह बात सर्वथा सुविदित है कि राष्ट्रीय एकता का आधार होता है 'सांस्कृतिक एकता' । यही वह वस्तु है, जिसने असमय में भारतीय राष्ट्र की रक्षा की, जो भारतीय राष्ट्र को राष्ट्र बनाती है, और जो भारतीय राष्ट्र को विश्व-सेवाओं में गौरव प्रदान कर सकती है । परन्तु दुर्भाग्य से हमारी 'सांस्कृतिक एकता' प्रान्तीयता,

पद-लोलुपता, कुनबा-परस्ती और भाषा-विप्लव जैसी महामारियों से आक्रान्त-सी दीख रही है। भौतिक सुखोपभोग और महत्त्वाकांक्षाओं की लिप्सा के कारण भारतवासियों के 'समान-जीवन-दर्शन' के तिरोहित होने का भय उपस्थित हो गया है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था की आधारभूत 'वर्णाश्रम-मर्यादा', जिसने सहस्रों वर्षों तक इस विशाल-मानव-समूह की नींव में रहकर काम किया है, आधुनिक प्रजातन्त्र में पोषण के अभाव में सूखने लगी है। वर्णाश्रम-मर्यादा समाज और व्यक्ति के जीवनों को उचित रूप में मर्यादित कर एक-दूसरे के प्रति समन्वित करती थी। उसका यह कार्य तो समाप्त हो गया; सिर्फ उसके ध्वंसावशेष के रूप में बचे जाति-पाँति के बन्धनों के जाल ने समाज को कसकर जकड़ दिया है। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक चेतना और मातृभूमि की उपासना के, केन्द्रीभूत 'तीर्थस्थान' भी 'सिटी' रूप में परिणत होते जा रहे हैं। भौतिक मिथ्याचार ने श्रद्धातत्त्व की सजीवता पर पाबन्दी लगा दी है। भाषा-विप्लव ने तो सांस्कृतिक क्षेत्र में कानन-कानून को चरितार्थ कर रखा है। भारतीय इतिहास में वह दिन दुर्भाग्य का ही कहा जा सकता है, जिस दिन संस्कृत-भाषा का राष्ट्रीय गौरव समाप्त किया गया। सांस्कृतिक एकता की जड़ में यह प्रबलतम कुठाराघात था। जब भगवान् बुद्ध ने लोक-बोलियों को मान्यता देकर 'विकार' और 'प्रमाद' के लिए रास्ता साफ कर दिया तो भाषा-विज्ञान के नियमों के अनुसार नित्य-नूतन प्रादुर्भूत होनेवाली बोलियों के दुर्दमनीय प्रवाह ने भारत-भू को एकदम निमज्जित कर दिया। इस विकट परिस्थिति को तीन महापुरुषों ने खूब समझा। इनमें दो सज्जन गुजराती और एक अँग्रेज थे। गुजराती महानुभाव स्वामी दयानन्द और महात्मा गाँधी ने सुधार के उपाय के रूप में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को असन्दिग्ध रूप में राष्ट्रभाषा स्वीकार कर भाषा-विप्लव की समाप्ति की उद्घोषणा की। अँग्रेज महानुभाव थे— मैकाले साहब। इन्होंने भारत में अँग्रेजी भाषा को नई

बला के रूप में सत्तारूढ़ कर भाषा की समस्या हल करनी चाही । पर उन्हें सफलता न मिली। कारण स्पष्ट है; मैकाले साहब की धारणा थी—"भारत और अरेबिया का सम्पूर्ण साहित्य योरुप के किसी पुस्तकालय की अल्मारी के एक खाने की तुलना मुश्किल से कर पायेगा।" मैकाले साहब की ग़लत धारणा के कारण ही संसार की सर्वाधिक विकसित भाषा अँग्रेज़ी, संसार के सर्वाधिक विस्तृत साम्राज्य की शक्ति को पीठ पर पाकर भी, भारत में स्थायित्व न पा सकी। अस्तु। इधर ऋषि दयानन्द और महात्मा गाँधी के प्रयत्न के बावजूद भी भाषा-विप्लव की विकराल आँधी पूरी तरह शान्त नहीं हो पाई है, और आज भी साँस्कृतिक एकता के लिए वह सर्वाधिक भय का कारण है।

हमारा युक्ति-क्रम यह है कि राष्ट्रीय एकता के लिए सांस्कृतिक एकता अनिवार्य है। इसमें अन्य साधारण बाधाओं के अतिरिक्त भाषा-विप्लव की बाधा सबसे उग्र है। यह वह बिन्दु है, जहाँ पर चोट करने से सांस्कृतिक एकता का सिंहासन उलट जाता है। भारतीय भाषा-विप्लव के प्रसंग में उर्दू का उत्पात और अँग्रेज़ी का अहंकार चिर-स्मरणीय रहेंगे। वस्तुतस्तु उर्दू कोई अलग भाषा नहीं है। उसके वाक्यों का विन्यास और ढाँचा तथा क्रिया-पद सभी हिन्दी-व्याकरण-सम्मत है। उसमें यदि कोई नवीनता है तो केवल अरबी-फारसी के तत्सम शब्दों की। इसका भी कारण है। उक्त देशों से आनेवाले मुस्लिम शासकों ने अपने अरबी-फ़ारसी प्रेम को मूर्त रूप देने के लिए हिन्दी में उन भाषाओं के शब्दों की खुली भर्ती का ऐलान कर दिया जिससे हिन्दी बेचारी का हुलिया ही तब्दील हो गया। इसका अर्थ यह हुआ कि अरबी-फ़ारसी की भरमारवाली जो भाषा उर्दू-रूप में हमारे सामने आती है, उसमें उन शब्दों की भर्ती का आग्रह उन शासकों की विशिष्ट मनोवृत्ति का परिचायक है। स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र के समुन्नत

समय में शासकों की तथाकथित विशिष्ट मनोवृत्ति की समाप्ति हो जाती है और उसके साथ उस मनोवृत्ति के अलङ्करण भी निस्तेज व निर्वीर्य होकर स्वतः मूर्छित हो जाते हैं। अतः अब उर्दू भाषा में विदेशी शब्दों की वैसी भरमार को सम्भवतः प्रोत्साहन न मिल सकेगा। तब उर्दू और हिन्दी एक ही रह जाती हैं।

अब ज़रा अँग्रेज़ी भाषा के 'अहंकार' पर भी विचार कर लेना चाहिये। उर्दू के उत्पात के पीछे कोई ठोस वैज्ञानिक आधार कभी नहीं रहा। वह केवल कतिपय विदेशी शासकों की कमज़ोरीमात्र थी, जिसे बाद में कुछ साम्प्रदायिक रंग देकर अखाड़े में उतारा गया। वास्तविक रूप से मुस्लिम जनता का, जो हिन्दुओं में से निकलकर इस्लाम धर्म में दीक्षित हुई थी, अरबी-फ़ारसी शब्दावली से वैसा कोई लगाव कभी न था। मुस्लिम जनता की यदि कोई स्वाभाविक साहित्यिक परम्परा हो सकती थी तो वह रसखान और जायसीवाली ही थी। इसके विपरीत अँग्रेज़ी भाषा के पीछे एक गौरवपूर्ण तत्त्व है। यह एक सर्वसम्मत तथ्य है कि अँग्रेज़ी भाषा संसार की समृद्धतम भाषाओं में से एक है। अँग्रेज़ी शासनकाल में संस्कृत-भाषा का विकास सर्वथा निरुद्ध और भारतीय लोक-भाषाओं का सीमित किया जा चुका था। ऐसी अवस्था में अँग्रेज़ी अपने साहित्यिक विकास के पूर्ण यौवन में भर शासनसत्ता की मदिरा से उन्मत्त हो मोहक लास्य नृत्य कर उठी, जिसने भारतीय विद्वज्जनों के मन को भी मोहित कर लिया। राज्यभाषा होने के कारण इसके उपासकों को 'पद' और 'अर्थ' दोनों का लाभ होता ही था। इस सबके कारण भारतीय प्रतिभाओं को निखिल भारतीय रूप में आकर चमकने का अवसर न मिला। महाकवि रवीन्द्र बंगाल के और श्री प्रेमचन्द्र इधर के होकर रह गये। इन प्रतिभाओं का अँग्रेज़ी रूपान्तर भारतीय जन-मानस से बहुत दूर की चीज़ हो जाता था। उसमें शासकीय रौब एवं दुरूहता की गन्ध आने लगती थी। जब भारत में

विचारों के माध्यम के रूप में—अखिलदेशीय रूप से—कोई भाषा न रही तो यहाँ विचार-दारिद्र्य और मौलिकता का महा अकाल पड़ गया। इसे देख लोगों की यही धारणा रह गई कि 'हिन्दुस्तानी अच्छा गुलाम होता है।' इस बढ़ते हुए मर्ज़ की रोकथाम के लिए महात्मा गाँधी ने ले-देकर उन विषम परिस्थितियों में 'हिन्दुस्तानी' का आविष्कार किया। परन्तु समय ने सिद्ध कर दिया कि रोगी की प्रकृति के प्रतिकूल दी गई औषध फलवती सिद्ध नहीं होती। भाषा-विप्लव-काण्ड में 'हिन्दुस्तानी' का हुड़दंग एक धमाका बनकर रह गया।

यदि संक्षिप्तरूपेण भारतीय भाषा-विप्लव की अराजकता पर दृष्टि-पात करें तो हमें निम्न विनाशक परिणाम स्पष्टतया लक्षित होंगे—

(क) भारतीय सांस्कृतिक भाषा संस्कृत अपने चिर-अधिष्ठित सिंहासन से पदच्युत कर दी गई। उसका स्थान लेने के लिए शासकीय शक्ति का सहारा लेकर क्रमशः फ़ारसी और अँग्रेज़ी व हिन्दुस्तानी भाषाएँ आईं। पर वे सफल न हो सकीं, क्योंकि उनके पीछे भाषा-वैज्ञानिक नियमों का बल न था।

(ख) सांस्कृतिक भाषा के अभाव में सांस्कृतिक चेतना और प्रतिभा की मौलिकता को फलने-फूलने का माध्यम अनुपलब्ध हो गया। फलतः सांस्कृतिक दैन्य के लक्षण प्रकट होने लगे और भारत मे मानसिक दासता का जन्म हुआ।

(ग) इन सबके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय स्वरूप में विकार आने लगा।

(घ) व्यावहारिक भाषा का स्थान अँग्रेज़ी को मिल गया। राष्ट्रीय चेतना प्रान्तीय दैशिकता का रूप धारण कर खण्डित होती गई।

(च) भारतीय समाज कुछ ऐसे समुदायों में विभक्त हो गया जिनके

मध्य बड़ी अस्वाभाविक दीवार खड़ी हो गयी। अँग्रेज़ी जाननेवालों तथा अँग्रेज़ी से अनभिज्ञ लोगों के मध्य मिथ्या आडम्बर स्थान पा गया।

(छ) ग्रामीण समाज को मानसिक और सांस्कृतिक चेतना की धारा से वञ्चित हो जाना पड़ा।

आख़िर वह दिन भी आया, जबकि भारतीय संविधान में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को राजकीय भाषा स्वीकृत किया गया। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी की संस्कृतनिष्ठता बड़े महत्त्व की है। यदि हिन्दी को संस्कृत के आधार पर विकसित न किया गया तो यह भी पूर्ववर्ती प्रयोगों की तरह व्यर्थ होगा। संस्कृत-साहित्य अपनी विविध और समुन्नत परम्पराओं को प्रदान कर हिन्दी को गौरवान्वित कर सकता है। हमारे प्राचीन साहित्य की सर्वोत्कृष्ट देन—भारतीय नवराष्ट्र के लिए—यही हो सकती है। संस्कृत में ही वह शक्ति निहित है जो एक सहस्र वर्षों से पथ-भ्रष्ट राष्ट्र को संस्कृति के उस पथ पर डाल सकती है जो राष्ट्रीय गौरव के उपयुक्त है।

इस परिस्थिति में राष्ट्रभाषा-सेवकों पर जो महान् उत्तरदायित्व आ पड़ा है, उसके प्रति सजग रहने से ही सफलता सम्भव है। यह नितान्त आवश्यक है कि राष्ट्रभाषा के अध्ययन-क्रम के पीछे जो दृष्टि है उसमें मौलिकता एवं गाम्भीर्य दोनों आ जायें। संस्कृत माता की सुखद गोद में बंगाली, महाराष्ट्री और गुजराती आदि बहिनें इस प्रेम से मिल जायें कि मानों पितृगृह में आकर सगी बहनें परस्पर गले मिल गई हों। भारतीय गणतन्त्र की छत्रछाया में यह स्नेह-सम्मेलन चिरकाल तक सुधारस-धार प्रवाहित कर जन-मन को तृप्त करता रहे।

अँग्रेज़ी शिक्षा-विशारदों के निर्देश से आधुनिक भारतीय भाषाओं की उच्च कक्षाओं एवं संस्कृत भाषा का जो पाठ्य-क्रम निर्धारित था

वह पल्लवग्राही पाण्डित्य को ही जन्म दे सकता था। अब उस अध्ययन में ठोस गाम्भीर्य आने की आवश्यकता है। इस सबके अतिरिक्त अँग्रेज़ी भाषा को यहाँ से सादर विदा करने से पूर्व उसके अन्दर विद्यमान वैज्ञानिक साहित्य की अपूर्व विभूति को आत्मसात् करने का उपक्रम भी वाञ्छनीय है। आधुनिक वैज्ञानिक साहित्य के बिना संस्कृत, हिन्दी और अन्य सभी देशीय भाषाएँ युग-दृष्टि से अकिञ्चन ही हैं।

इतनी पृष्ठभूमि के पश्चात् अपनी बात भी कहनी आवश्यक है। भारतीय साहित्यिक परम्परा के सम्यगवबोध के बिना किसी भी भारतीय भाषा का अध्ययन अपूर्ण है। अतः इस तुच्छ प्रयास में आधुनिक हिन्दी काव्य-धाराओं को प्राचीन भारतीय काव्य-मतों की शृङ्खला में रखकर हिन्दी-काव्य की प्रगति को परखने की चेष्टा की गई है। आशा है कि हिन्दी और संस्कृत-साहित्य की उच्च कक्षाओं के अध्येता छात्रों को एक शृङ्खला में आबद्ध भारतीय काव्य-परम्पराओं को देखने का अवसर मिलेगा। आरम्भ में 'अलङ्कार-शास्त्र' के संक्षिप्त इतिहास को रख दिया है, ताकि विषय की रूपरेखा पहिले ही ज्ञात हो सके।

काव्यमतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में साधारणरूपेण निम्न तथ्य ध्यान रखने उचित हैं, ताकि शुद्ध साहित्यिक विवेक का अनुसरण सम्भव हो सके—

(१) प्राचीन भारतीय काव्यमत काव्य के स्वरूप की खोज में निकले हुए काव्यालोचकों द्वारा स्थापित हुए थे।

(२) जबकि आधुनिक हिन्दी के 'वाद' कवियों की रचनाओं को 'श्रेणी-बद्ध' करने से दीखने लगे हैं।

(३) कुछ 'वाद', जैसे 'प्रगतिवाद', रोटी के राग के रूप में साहित्यक्षेत्र में लाये गये हैं। इनका प्रादुर्भाव न कविकृत है और न आलोचकान्वेषित।

(४) अनेक वाद ऐसे भी हैं जो विदेशी 'आलोचना-क्षेत्र' से यहाँ आकर अभ्यागत रूप में उपस्थित हैं। उनकी उपस्थिति से हमारे आलोचना-साहित्य की शोभा बढ़ी है।

अलङ्कार-शास्त्र के अध्ययन का महत्त्व क्या है और उसके द्वारा किस लक्ष्य की पूर्ति होती है, यह भी विचारणीय है। 'हमारे यहाँ सभी कुछ है' की प्रवृत्ति जिस तरह कूपमण्डूकता की जन्मदात्री है, उसी तरह विलायत के नित्य-नवीन जन्म लेनें वाले फैशनात्मक सिद्धान्ताभास भी जिज्ञासु को 'आकाश-बेल' बनाने के लिए काफ़ी हैं। आवश्यकता इस बात की है कि तर्क-संगत विवेचन के सहारे विचारों की पारस्परिक तुलना, उनका साम्य वैषम्य के आधार पर वर्गीकरण और तदनन्तर शासक नियमों का उद्घाटन कर सकने की विश्लेषणात्मक क्षमता का उदय हो, ताकि सिद्धान्तों के वैज्ञानिक प्रत्यक्षीकरण का मार्ग प्रशस्त होता रहे। यह सब, उथले और प्रमाण-पत्र-प्रदायक परीक्षा-पास-मात्रात्मक अध्ययन से न हो सकेगा। डा० देवराज के अधोलिखित अभिमत से सहमत होते हुए हमारी कामना है कि यह तुच्छ प्रयास साहित्य के संतुलित अध्ययन में संस्कृत-हिन्दी के छात्रों व जिज्ञासुओं को सहायक हो। इसी में हमारे श्रम की सफलता है—

"जो व्यक्ति काव्य-साहित्य का रस ग्रहण कर सकता है, उसे हम भावुक या सहृदय कहते हैं।······यदि पाठकों और भावी आलोचकों की रस-ग्राहिणी शक्ति का स्वाभाविक रूप से विकास हो, तो सम्भवतः उसकी इतनी कमी, उसमें इतना विकार, न हो। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि हमारी काव्याभिरुचि का विकास काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी मतमतान्तरों के बीच होता है। हमारे शिक्षकों का उद्देश्य हमारी काव्यशास्त्र की रस ग्रहण करने को शक्ति को प्रबुद्ध और पुष्ट करना नहीं, अपितु कुछ विशिष्ट आलोचना-प्रकारों से परिचित कराकर परीक्षा में

'पास' करना भर रहता है, जिसके फलस्वरूप हमारी वह शक्ति नितान्त विकृत या कलुषित हो जाती है।......इस विकृति का प्रभाव पाठकों, आलोचकों तथा साहित्यकारों—तीनों पर देखा जा सकता है, और उसका कुफल साहित्यकारों तथा सम्पूर्ण जातीय साहित्य को भोगना पड़ता है।" – (साहित्य-चिन्ता, पृष्ठ-संख्या ८) ।

[संकेत—यह भूमिका 'काव्य संप्रदाय और वाद' की एकत्रित भूमिका है।]

काव्य-सम्प्रदाय

भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास

"भरत से लेकर विश्वनाथ या जगन्नाथ पर्यन्त हमारे देश के अलङ्कार-ग्रन्थों में साहित्यविषयक जैसी आलोचना दीख पड़ती है वैसी ही आलोचना दूसरी किसी भाषा में आज तक हुई है, यह मुझे ज्ञात नहीं।" डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

भारतीय विद्वानों का काव्यशास्त्र का अनुशीलन समृद्ध, प्रौढ़, सूक्ष्म और वैज्ञानिक है। इसके पीछे सहस्रों वर्षों का इतिहास और न जाने कितने मनीषियों की साधना छिपी हुई है। विश्व के पुस्तकालय के प्राचीनतम ग्रन्थों—वेदों में, स्वयं वेद को काव्य कहा गया है। निःसन्देह वहाँ यह 'काव्य' शब्द एक विशिष्ट अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है—"पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।" अर्थात् ए मनुष्य! तू परमात्मदेव के उस काव्य को देख जो न कभी मरा है और न जीर्ण होता है। काव्य की इससे अधिक मौलिक एवं स्पष्ट व्याख्या क्या हो सकती है! काव्य को अजर-अमर कहकर कला के तत्त्वों को एक स्थान में समाहृत कर दिया है। इतनी पुष्ट व्याख्या के साथ-साथ काव्य शब्द का प्रयोग असन्दिग्धरूपेण इस बात का ज्ञापक है कि वैदिक ऋषि काव्य के स्वरूप व महत्ता से सम्यक्तया परिचित थे। इसके अतिरिक्त वैदिक ऋचाओं में भी उत्कृष्ट कोटि का काव्यत्व प्राप्त होता है, यह सब हम यथास्थान देखेंगे।

यद्यपि भारतीयों ने सहस्रों वर्षों की विशाल ग्रन्थ-रत्न-राशि और उसकी अमूल्य ज्ञान-निधियों को अद्भुतरीत्या सुरक्षित रखने की जो तत्परता दिखाई है वह न केवल प्रशंसनीय ही है, अपितु आश्चर्यजनक

भी है; तो भी आत्मविज्ञान की अत्यन्त अरुचि के कारण इतिहास के प्रति उनकी उदासीनता साहित्य-शास्त्र के विकास-क्रम को समझने में भारी कठिनाई उपस्थित करती है। प्रचुर एवं पर्याप्त इतिहास-सामग्री के अभाव में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ तक पैदा हो जाती हैं। विकास-क्रम के उत्साही छात्र की इस असहायावस्था में एकमात्र मार्ग यही है कि वह अपनें काव्यशास्त्र :के इतिहास का अध्ययन भरतमुनि के 'नाटचशास्त्र' से प्रारम्भ करे।

काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों और विवेचनों के सम्यक् बोध के लिए उसकी ऐतिहासिक क्रम-बद्धता भी आवश्यक है। परन्तु उसे प्राप्त करना अति कठिन है। उसके लिए एतद्विषयक भारी अनुसन्धान-सामग्री और श्रम की अपेक्षा है। जिन कारणों से काव्यशास्त्र का इतिहास दुर्लभ बना हुआ है उनका यहाँ निर्देश कर देना आवश्यक है :—

१. विद्वानों के उपलब्ध ग्रन्थ अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं हैं। प्रक्षिप्त अंश काफी रहता है। फिर मूल और प्रक्षिप्तांश का विवेक करना और भी दुःसाध्य है। अतः इस प्रकार के मिश्रित ग्रन्थों के काल-निर्णय में त्रुटि रह जाती है। अथच मानवजाति के दुर्भाग्य से पता नहीं कितने ग्रन्थ अप्राप्त हैं, और कितने ही विनष्ट होकर सदा के लिए अस्तित्वहीन हो काल के गाल में समा गये। उदाहरणार्थ नन्दिकेश्वर के नाम से कामशास्त्र, गीत, नृत्य और तन्त्रसम्बन्धी पुस्तकों का उल्लेख तो मिलता है परन्तु अद्यावधि उनमें से कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है।

२. भारतीय विद्वानों ने अपने विषय में प्रायः कुछ भी परिचय नहीं दिया है। अतः उनके जीवन, काल, रचित ग्रन्थों और प्रतिपादित सिद्धान्तों का पता पाना कठिन है।

३. अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनका क्रमशः विकास होता रहा है। भरत का 'नाटयशास्त्र' ऐसा ही ग्रन्थ है। उसे देखकर यह प्रतीत होता

है कि यह अनेक समयों में अनेक व्यक्तियों द्वारा सम्पादित होता रहा है।

अस्तु ! जब तक काव्यशास्त्र के इतिहास का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता तब तक काव्यशास्त्र के अन्तर्गत उठनेवाले साहित्यिक मतों और वादों का समझना व उनका महत्त्व अङ्कित करना नितान्त क्लिष्ट है। फिर भी श्रमशील विद्वज्जनों की कृपा से हमें काव्यशास्त्र के इतिहास का एक मोटा-सा ढाँचा प्राप्त है। इसलिए उस ढाँचे की रूपरेखा से अवगत होकर हमें अपना काम चलाना पड़ेगा।

× × ×

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥ नाट्यशास्त्र ॥

जब किसी सुनसान बीहड़ वन के खण्डहर में किसी भगोड़े सम्राट् की रानी के गर्भ से युवराजपदभाक् कुमार का जन्म हुआ होगा तो राज-दम्पती की तात्कालिक मानसिक वेदना, विक्षोभ और निरीहता का अनुमान आज वीणापाणि भगवती देवी को अवश्य ही हो रहा होगा। आधुनिक बुद्धिवादी रिसर्च-स्कॉलर जब महारानी सरस्वती तक के वरेण्य पुत्र "काव्यपुरुष" का जन्म किसी घुनखाई प्राचीन पुस्तक में खोज निकालते हैं और 'कुमार' के विकासक्रम को तर्कपूर्ण अनुसन्धानों से शनैः शनैः उद्घाटित करते चलते हैं तो उन्हें 'काव्यमीमांसा' में राजशेखर द्वारा वर्णित ब्रह्मा की आज्ञा से सम्पन्न पुत्र-जन्मोत्सव की याद अवश्य आ जाती होगी ! कहाँ वह ऐश्वर्य, कल्पना और वाग्विभूति से सम्पन्न चमचमाता जन्मोत्सव और कहाँ आज की दारिद्र्यपूर्ण पहाड़ की चढ़ाई जैसी शुष्क खोज ! खैर, यह तो काल-क्रम से प्राप्त सरस्वती-देवी की विपत्ति की कहानी है। आज के इस मँहगे वैज्ञानिक युग में सरस्वती-पुत्र काव्यपुरुष तक के जन्मोत्सव में कल्पना, और वाग्विभूति जैसी मूल्यवान् वस्तुओं को देख-भाल कर खर्च करना पड़ेगा। अतः

राजशेखर के आलङ्कारिक वर्णन से काव्यशास्त्र का जन्म कब, कहाँ, कैसे हुआ इसका समाधान न हो सकेगा। उसे छोड़ हम सीधी तरह बुद्धि व तर्क से निशित 'ऑपरेशन' के सभी प्रकार के औज़ार लेकर प्राचीन ग्रन्थों के किसी आवास-गृह में पहुँचें और अपने चीर-फाड़ात्मक कार्य से गुरु-गृहों में गुरु-मुख से निरन्तर श्रूयमाण किम्वदन्तियों और जनश्रुतियों का मवाद अलग कर शुद्ध तथ्य का रूप सामने लायें। और जिस समय जिस स्थान में 'काव्यपुरुष' के प्रथम दर्शन हों वही दिन वही स्थान उसकी जन्मतिथि व जन्मभूमि उद्घोषित कर दें। ऐसा करके शायद हम वैज्ञानिक होने का श्रेय प्राप्त कर सकेंगे।

भारतीय वाङ्मय की प्राचीनतम उपलब्ध पुस्तक ऋग्वेद है, जो शायद संसार की भी सबसे पुरानी पुस्तक होने के साथ-साथ पद्यबद्ध भी है। उसे स्वयं वेद-भगवान् 'काव्य' कहते हैं, ऐसा हमने ऊपर निर्दिष्ट किया है। भारतीय आस्तिक्य बुद्धि और निष्ठा के अनुसार वेद के अजर-अमर काव्य का कर्त्ता यदि ईश्वर को मान लिया जाय तो उसके कवि होने के लिए प्रमाण चाहिये। वेद-भगवान् हमें ऐसा ही बताते हैं कि वह—"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः"—है। अर्थात् वह क्रान्तदर्शी, मननशील, व्यापक और स्वयमेव होनेवाला है। वेद ने अपनी विचित्र शैली में हमें यह भी बता दिया कि कवि का लक्षण क्या है?—वह क्रान्तदर्शी, मनन करनेवाला, व्यापक दृष्टि-सम्पन्न और 'स्वतःजात' होता है। 'निराला' के "कुकुरमुत्ते" की तरह कवि भी पैदा नहीं किये जाते, वे स्वयमेव हुआ करते हैं। जिन व्यक्तियों में इन चार मूलभूत विशेषताओं की सम्पत्ति पृष्ठभूमि के रूप में विद्यमान होती है वे ही अपनी अनुभूतियों को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं जो समान रूप से दूसरों के हृदय में भी उसी प्रकार की अनुभूतियाँ जगा सकें—अर्थात् उनमें साधारणीकरण की अलौकिक क्षमता वर्तमान रहती है। आधुनिक साहित्य-समीक्षक भी उसे कवि ही बताते हैं।

ऊपरलिखित कवि के 'काव्य' में काव्य का "व्यवहारगत रूप" और विवेचन से सम्बन्धित संकेत, दोनों ही मिलते हैं। यहाँ पर हम क्रमशः इसी का उल्लेख करते हैं :—

[क] १. निम्न मन्त्र की उपमाओं को कालिदास व अश्वघोष की उपमाओं से मिलान करके देखिये। उनकी चित्रवत् मूर्तविधायिनी क्षमता स्वतः स्पष्ट हो जायेगी—

(i) **सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः।**
वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवेवः॥

(इन ऋषियों का तेज सूर्य के तेज की तरह, महिमा समुद्र की गहराई के समान अथाह और बल वायु-प्रवेग के समान होता है।······)

(ii) कालिदास दिलीप का चित्र इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :—

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
(रघु० १।१२)

(सुविशाल वक्षवाला, वृष के समान स्कन्धवाला और शाल वृक्ष के समान प्रलम्बमान बाहुवाला······)

(iii) और नन्द-वर्णन में अश्वघोष कहते हैं :—

दीर्घबाहुर्महावक्षाः सिंहांसो वृषभेक्षणः।
(दीर्घ भुजाओं वाला, महान् वक्षवाला इत्यादि)

२. वैदिक उक्ति की वक्रता की बानगी भी इस अन्योक्ति में दर्शनीय है :—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नभिचाकशीति॥
॥१;१६४;२०॥

(दो पक्षी—आत्मा और परमात्मा मित्रभाव से मिलकर एक ही वृक्ष—जड़ प्रकृति—पर बैठे हैं। उनमें से एक—जीवात्मा—स्वादु पिप्पाली को खाता है—प्रकृति का उपयोग करता है। दूसरा परमात्मा—

केवल द्रष्टा रूप से स्थित है) । इसमें ईश्वर, जीव और प्रकृति सम्बन्धी वैदिक त्रैतवाद का निर्देश है ।

३. प्रकृतिवर्णन में भी काव्य-दृष्टि रमणीय है । अशनिपात का आलङ्कारिक वर्णन कितना सुन्दर है :—

अपोषा अनसः सरत्संपिष्टादह विभ्युषी नियत्सीं शिश्नथद् वृषा ॥

॥४. ३०. १०॥

(जब वृष्टिकर्त्ता वायुरूपी साँड ने इस मेघ-शकट पर प्रहार किया तब उस पर स्थित शकट-स्वामिनी दामिनी भयभीत होकर संचूर्णित मेघ-शकट से भाग निकली) । यहाँ पर वेद का कवि एक शुष्क वैज्ञानिक तथ्य को काव्यमय भाषा में प्रकट करता है ।

४. आकाश के गायक मेघों के लिए भी कामना है—

सुजातासो जनुषा रुक्मवक्षसो दिवो अर्का अमृतं नाम भेजिरे ॥

॥ऋ० ५।५७।५॥

(कल्याणार्थ उत्पन्न ज्योतिर्मय वक्षवाले इन आकाश के गायकों की ख्याति अमर हो ।)

[ख] अब काव्य-विवेचन सम्बन्धी कतिपय वैदिक संकेतों को लीजिये :—

(*i*)……**सुबुध्न्या उपमा अस्य विष्ठा**……॥यजु०१०।१६।११॥

(जिसके विविध स्थलों में स्थित अन्तरिक्षस्थ लोक-लोकान्तर उपमाभूत हैं……) ।

(*ii*) **यो अग्निः काव्यवाहन : पितॄन्**……॥ऋ० १०।१६ ११॥

(जो कवियों के लिए हितकारी, तेजस्वी ब्रह्मचारी है……)

(*iii*) **विधु दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।**

देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥१०।५।५५

इन उद्धृत मन्त्रों में "कवियों के लिये हितकारी काव्य और उपमा सभी मौजूद हैं ।"

वेदों के सिवाय ब्राह्मणादि ग्रन्थों में हमारे काम की सामग्री प्रायः नहीं है। हाँ, महाकाव्य-काल के रामायण और महाभारत में काव्य के सभी अङ्गों की सुन्दर परम्परा पाई जाती है। रामायण के बालकाण्ड में नव-रसों का उल्लेख मिलता है :—

रसैः शृंगारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः ॥
वीरादिभिः रसैर्युक्तं काव्यमेतद्गायताम् ॥

यद्यपि अधिकांश विद्वान् इसे प्रक्षिप्त मानते हैं तो भी रामायण में काव्यशास्त्र के विवेचन की सामग्री का अभाव नहीं है। आदि कवि का प्रथम छन्दोच्चारवाला उपाख्यान अवश्य ही काव्य की मूल प्रेरक शक्ति क्या है, इस प्रश्न के उत्तर में है।

निशम्य रुदतीं क्रौञ्चीमिदं वचनमब्रवीत् ॥
मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीसमाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

क्रौञ्चमिथुन में से एक का वध हो जाने पर क्रौञ्ची की वियोग-कातर अवस्था ने कवि-हृदय में वेदना का सञ्चार किया ; इस प्रकार उद्वेलित हृदय का उद्गार श्लोक-रूप में सामने आ गया। कवि स्वयमेव काव्यस्फुरण की इस घटना का पर्यालोचन कर बताते हैं कि—

शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोक : भवतु नान्यथा—

सिवाय कविता के यह और कुछ भी नहीं है। दूसरों ने भी इसे इसी रूप में स्वीकार किया —

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

॥ ध्वन्यालोक ।१।५॥

काव्यालोचन के सिद्धान्तों की मूलभूत समस्या, जो भारतीय चिन्तकों को सदा सताती रही है, यही है कि काव्य की आत्मा क्या है ? सभी प्रश्न इस एक ही प्रश्न के समाधान की प्रतीक्षा में हैं। आदिकवि ने

अपनी तात्त्विक दृष्टि से इसका व्याख्यान सर्वथा मौलिक ढंग से कर दिया। यही व्याख्यान हमारे काव्यालोचन की आधारभूत भित्ति बना। इसी कारण वाल्मीकि को आदिकवि कहा गया। डा० नगेन्द्र के अनुसार उक्त व्याख्यान से निम्न काव्य-सिद्धान्त निष्कर्ष रूप से हमें प्राप्त होते हैं :—

(*i*) काव्य की मूल प्रेरणा भावातिरेक है। सैद्धान्तिक शब्दावली में काव्यात्मा भाव या रस है।
(*ii*) काव्य, अपने मूल रूप में, आत्माभिव्यक्ति है।
(*iii*) कवि रसस्रष्टा होने से पूर्व रस-भोक्ता है।
(*iv*) भावोच्छ्वास और छन्द का मूलगत सम्बन्ध है।

कहना न होगा कि उक्त चारों सिद्धान्त भारतीय काव्यालोचन के भव्य भवन के आधार-स्तम्भ बन गये हैं।

महाकाव्यों के पश्चात् शब्दशास्त्र के ग्रन्थों में भी काव्य-सिद्धान्तों का प्रासङ्गिक व्याख्यान मिलता है। यास्काचार्य ने वैदिक कोष निघण्टु और निरुक्त में सम्पूर्ण क्रियाओं का षड्भावविकारों में समाहार, शब्दों का नित्यत्व प्रतिपादन, देवताओं के भक्तिसाहचर्य-प्रकरण में छन्दों का विभाजन एवं निर्वाचन और उपमाओं का विवेचन करने के द्वारा काव्यशास्त्र के सैद्धान्तिक अनुशीलन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसी प्रकार पाणिनि और महाभाष्यकार पतञ्जलि के व्याकरण में काव्यशास्त्र-सम्मत 'उपमित', 'उपमान' और 'सामान्य' का उल्लेख है। हमारे वैयाकरणों ने शब्दशास्त्र का जिस वैज्ञानिक प्रौढ़ता से निर्माण व सम्पादन किया है उस सबसे यही प्रतीत होता है कि काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों का भी विवेचन उसी प्रणाली पर होता रहा होगा ; क्योंकि काव्यशास्त्र शब्दविचार के अन्तर्गत ही है। इस तथ्य की स्वीकृति 'काव्य-प्रकाश' में यह कहकर—"**बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भा-**

वितवाच्यव्यंग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य"—की है। यहाँ पर वे स्पष्टतया बताते हैं कि उन वैयाकरणों के ही मतानुसार अन्यों ने भी वाच्यार्थ को गौण बना व्यङ्ग्यार्थ के ज्ञापक शब्द अर्थ दोनों को ही 'ध्वनि'-काव्य माना है।

व्याकरण की तरह भारतीय दर्शनशास्त्र भी अपनी सूक्ष्मवीक्षण शक्ति तथा परिपूर्णता के लिए विख्यात है। प्राचीन समय में अध्ययन की परिपाटी गुरु को केन्द्र मानकर चलती थी। शिष्य अपने गुरु के दार्शनिक सिद्धान्तों का कट्टर अनुयायी होता था। इसी में उसका शिष्यत्व था। ऐसे शिष्य जब व्याकरणादि अन्य क्षेत्रों में पहुँचते थे तो वे उन शाखाओं के सिद्धान्तों की व्याख्या अपने दार्शनिक मतों के अनुकूल करते थे। इस प्रकार व्याकरणादि और दर्शन के सिद्धान्त परस्पर मँज-घुल कर गुँथे हुये हैं। सिद्धान्तों के इस परिमार्जन का क्षेत्र काव्यशास्त्र तक भी अवश्य विस्तृत हो गया होगा। इसी कारण हम बाद को भी इसी परिपाटी का अनुसरण करते हुए लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनव-गुप्त आदि को देखते हैं; ये सभी क्रमशः मीमांसा, न्याय, सांख्य और वेदान्त दर्शनों के अनुयायी थे और अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रकाश में ही काव्यशास्त्र-सम्बन्धी तथ्यों का विवेचन करते थे। अतः व्याकरण व दर्शन ग्रन्थों की शैलियों को देखने से प्रतीत होता है कि प्राचीन पण्डित विभिन्न शास्त्रों के क्षेत्र में दिग्विजय कर अपने दार्शनिक मत की सर्वोपरि प्रतिष्ठा के लिये अवश्य लालायित रहते होंगे। अतः काव्यशास्त्र में भी उनका प्रसार अवश्य रहा होगा। यह बात तब अनुमान कोटि से बढ़कर सिद्ध तथ्य तक जा पहुँचती है जब हम भरत को अपने 'नाट्यशास्त्र' में कृशाश्व व शिलालिन् जैसे काव्यशास्त्राचार्यों का उल्लेख करते हुए पाते हैं।

अभी तक हमने यह देखा कि काव्यपुरुष के चरणचिह्न सभी प्राचीन ग्रन्थों में अधिकता से पाये जाते हैं। परन्तु उसका मूर्त्त साक्षा-

त्कार भरत के नाटचशास्त्र के रूप में ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी में ही आकर होता है। तथापि काव्यशास्त्र के अनुशीलन की परिपाटी भरत से प्राचीनतर है। 'काव्यमीमांसा' में राजशेखर ने काव्य-पुरुष की उत्पत्ति बताते हुए लिखा है कि साहित्य-शास्त्र का प्रथम उपदेश शिव ने ब्रह्मा को किया, ब्रह्मा से दूसरों को मिला। और यह भी निर्देश किया कि उसके अठारह अधिकरणों के अठारह आदि-प्रवक्ता कौन-कौन थे? रस-प्रकरण के विषय में--**"रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर"** कहकर रस का आदि व्याख्याता नन्दिकेश्वर को बताया है। यह बात सम्भव हो सकती है, क्योंकि नन्दिकेश्वर का उल्लेख अन्य अनेक लेखकों ने भी किया है। अभिनवभारती में अभिनवगुप्ताचार्य लिखते हैं--**"यत्कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वर-मतमत्रागमित्वेन दर्शितं तदस्माभिः साक्षान्नदृष्टं तत्प्रत्ययात्तु लिख्यते संक्षेपतः......"** अर्थात् नन्दिकेश्वर की कृति को हमने देखा नहीं है परन्तु उनके मत के विषय में कीर्तिधर को प्रमाण मान लिया है। इसी प्रकार प्राचीन अभिलेखों में 'सुमति' नामक किसी विद्वान् के 'भरतार्णव' नामक ग्रन्थ का, जो नन्दिकेश्वर के ग्रन्थ के आधार पर निर्मित हुआ था, उल्लेख पाया जाता है। शारदातनय के 'भावप्रकाशन' में तो स्पष्टतया यह बताया गया है कि नन्दिकेश्वर ने भरतमुनि को नाटचशास्त्र का उपदेश दिया। इस सबके अतिरिक्त नाटचशास्त्र में रस-सिद्धान्त का व्याख्यान संक्षिप्त होते हुए भी अत्यन्त प्रौढ़ एवं वयःप्राप्त प्रतीत होता है। अतः यह मान लेना कि रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन भरत के पूर्व समय से ही होता चला आया था सर्वथा तर्कसंगत है, चाहे हमारे पास एतद्विषयक नाटचशास्त्र के सिवाय और कोई प्राचीनतर ग्रन्थ न भी हो।

नाट्यशास्त्र के रूप में काव्यशास्त्र का स्वतन्त्ररूपेण दर्शन

इतना ही नहीं, संस्कृत के काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में अनेक उद्धरण ऐसे भी हैं जिनसे भरत के पूर्व हुए अन्य अनेक आचार्यों और

उनके ग्रन्थों के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। नान्यदेव ने अपने भरतभाष्य (नाटचशास्त्र की टीका) में मतङ्ग, विशाखिल, कश्यप, नन्दिन् और दन्तिल आदि पूर्वाचार्यों का नामोल्लेख किया है। 'काव्यादर्श' की 'हृदयङ्गमा' टीका में—**'पूर्वेषां काश्यपवररुचिप्रभृतीनामाचार्याणां लक्षणशास्त्राणि संहृत्य पर्यालोच्य**······" इस प्रकार से पुरातन आचार्यों का स्मरण किया गया है।

इन अवस्थाओं में राजशेखर की साक्षी के सहित नन्दिकेश्वर को आदि आचार्य माननेवाली किम्वदन्ती, भरत द्वारा कृशाश्व व शिलालिन् नामक पूर्वाचार्यों का उल्लेख और भामह व दण्डीकृत मेधाविन् व कश्यप का स्मरण इत्यादि सभी के होते हुए भी काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ नाटचशास्त्र को ही मानना पड़ता है; क्योंकि उक्त किम्वदन्ती, उल्लेख और स्मरणमात्र तत्तद् ग्रन्थों के अभाव में कोई विशेष सहायता नहीं कर सकते। परन्तु इतना अवश्य स्वीकार करके चलना पड़ेगा कि हमारा यह ऐतिहासिक अध्ययन अपूर्ण ही है।

भरत का नाट्यशास्त्र

नाटचशास्त्र आकार व महत्त्व दोनों की दृष्टि से विशाल ग्रन्थ है। उसका मुख्य प्रतिपाद्य रूपक है, काव्य नहीं। तथापि नाटक के साङ्गोपाङ्ग वर्णन के साथ प्रसङ्गवश छठे और सातवें प्रकरण में रस का निदर्शन भी है। **"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"**—यह प्रसिद्ध सूत्र भरत का ही है। सोलहवें प्रकरण में अलङ्कारनिरूपण संक्षिप्त ही है। नाटचशास्त्र पर अनेक टीकाएँ भी हैं, परन्तु उन सबमें अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' सर्वाधिक विद्वत्तापूर्ण है।

शैली की दृष्टि से इसमें सूत्र, कारिकाएँ और भाष्य का क्रम विद्यमान है। श्लोकों के साथ कहीं-कहीं गद्यखण्ड का भी समावेश है। यद्यपि नाटचशास्त्र का कुछ अंश बहुत बाद का मालूम होता है तो भी कुछ भाग निश्चय ही ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी से भी पूर्व का दीखता है।

सम्भव है कि वर्तमान नाटचशास्त्र किसी प्राचीनतम कृति का विकसित रूप हो ।

नाटचशास्त्र का कर्त्ता भरतमुनि को बताया जाता है । डाक्टर काणे का अनुमान है कि नाटचशास्त्र किसी भरत नाम के व्यक्ति ने नहीं अपितु भरतों (नटों) ने संगृहीत कर नटों के कुल को महत्त्व प्रदान करने के लिए महामुनि के नाम से विख्यात कर दिया । यह तो कह ही चुके हैं कि नाटचशास्त्र की रचना विभिन्न प्रकार की है । अतः यह स्पष्ट है कि वह अनेक प्रकार से अनेक समयों में अनेक आचार्यों द्वारा सम्पादित होता रहा है । इस प्रकार उसका रचनाकाल ई० पू० २०० से लेकर ई० पू० ३०० तक निर्धारित होता है ।

काव्यशास्त्र-सम्बन्धी उपलब्ध ग्रन्थों में भरतमुनि का नाटचशास्त्र ही प्राचीनतम है—इस स्थापना के विपरीत कुछ लोग अग्निपुराण को सामने लाते हैं और 'काव्यप्रकाशादर्श' में से महेश्वर के इस कथन को उद्धृत करते हैं—"**गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलङ्कारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान् ।**" परन्तु अग्निपुराण को देखने से ज्ञात होता है कि वह भामह, दण्डी, और ध्वन्यालोक आदि से भी अर्वाचीन है । उसमें ध्वनि-सिद्धान्त का उल्लेख होने से ही यह बात स्पष्ट है ।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के पश्चात् ईसा की सातवीं व आठवीं शती में भामह और दण्डी दो प्रमुख आचार्य हुए । बीच के काल में काव्यशास्त्र-विषयक प्रगति का इतिहास अभी तक अन्धकार में ही है । परन्तु इतना निश्चित है कि इस समय भी काव्यशास्त्रानुशीलन की परिपाटी का क्रम यथापूर्व जारी था । भामह ने अपने से पूर्व हुए आचार्यों के ग्रन्थों का निर्देश किया है—"**इति निगदितास्तास्ता वाचामलंकृतयो मया बहुविधिकृतीर्दृष्ट्वान्येषां स्वयं परितर्क्य च**···"इत्यादि । मेधाविन् नाम के आचार्य का तो उसने दो बार उल्लेख किया है और

उसके बताये हुए उपमा-दोषों की गणना की है -"**त एत उपमादोषाः सप्तमेधाविनोदिताः ।**" परन्तु मेधाविन् के ग्रन्थ की उपलब्धि न होने से उनके विषय में आगे कुछ नहीं कहा जा सकता ।

इसके अतिरिक्त ईसा की छठी शताब्दी में दो ऐसे ग्रन्थ निर्मित हुए जो वास्तव में काव्यशास्त्र-विषयक नहीं; फिर भी उनमें साहित्य-विवेचन को स्थान दिया गया है । विष्णुधर्मोत्तर पुराण ने तृतीय खण्ड में प्रायः नाटचशास्त्र का अनुकरण करते हुए नाटच और काव्य का विवेचन किया है । इसी प्रकार भट्टिकाव्य , जो व्याकरण का ग्रन्थ है, में भी काव्य-विवेचन पाया जाता है ।

इनने से निम्न दो बातों का पता चलता है :—

(*i*) इस समय काव्यशास्त्र का महत्त्व पूर्णतया प्रतिष्ठित था, जिसके कारण उसको पुराणों और व्याकरण-ग्रन्थों में भी स्थान दिया गया ।

(*ii*) भरत के नाटचशास्त्र को अपने विषय का प्रमाण-कोटि का ग्रन्थ माना जाता था, इसीलिए उसे विष्णुधर्मोत्तर पुराण के कर्ता ने आधार बनाया ।

भरत ने रस का उल्लेख वाचिक अभिनय के प्रसङ्ग में किया है । अतः ऐसा ज्ञात होता है कि परवर्ती कतिपय आचार्यों ने रस को नाटक तक ही सीमित समझा । इसीलिए हम देखते हैं कि भामह यद्यपि रस-सिद्धान्त से पूर्णतया परिचित थे तो भी उन्होंने काव्यात्मा अलङ्कार को ही स्वीकृत किया । भामह का समय ८वीं शताब्दी माना जाता है । इस प्रकार भामह रस-विरोधी प्रथम आचार्य हुए, जिन्होंने 'अलंकार-सम्प्रदाय' की स्थापना की । हम देखेंगे कि भामह के अनुयायी दण्डी, उद्भट और रुद्रट हुए जिन्होंने उनके मत का अनुसरण किया । आचार्य भामह ने अलंकार शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए रचना एवं कल्पना के सौन्दर्य को काव्यात्मा कहा । उनके मत में वक्रोक्ति (काव्या-

त्मक अभिव्यञ्जना), जो अलंकार के मूल में रहती है, से रचना और कल्पना दोनों के सौन्दर्य की वृद्धि होती है। भामह ने रसों को रसवत्, प्रेयस् और ऊर्जस्वित् अलंकारों में समाहित किया है। भामह की दृष्टि में वक्रोक्ति ही काव्यात्मा है और सभी अलंकारों के मूल में वह रहती है। वक्रोक्ति से भिन्न प्रणाली स्वभावोक्ति है; पर उसमें काव्यत्व नहीं है। भामह का ग्रन्थ 'काव्यालंकार' है।

दण्डी का काल सातवीं शती बताया जाता है। इन्होंने वैदर्भी और गौड़ी नामक दो रीतियों, दस गुणों और पैंतीस अलंकारों का कथन किया है। दण्डी का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यादर्श' है जो रीति-सम्प्रदाय और अलंकार मतों के बीच की कड़ी कहा जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से यह ज्ञात होता है कि दण्डी ने भरत का अनुसरण करते हुए काव्याङ्गों के विवेचन को ही महत्त्व दिया, जब कि भामह ने अलङ्कार-सम्प्रदाय का मण्डन किया। दण्डी ने रसों को भामह की ही तरह अलङ्कारों में समाहित किया है। परन्तु रसवर्णन है विस्तार से। दण्डी का रीति और गुण-विषयक दृष्टिकोण निम्न प्रकार है :—

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भ-गौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥
वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः ।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड़वर्त्मनि ॥

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 'अलङ्कारसारसंग्रह' के रचयिता आचार्य उद्भट हुए। यद्यपि ये भामह के मतानुयायी थे तो भी अलङ्कार-सम्प्रदाय में इनके आचार्यत्व का प्रामाण्य सर्वोपरि है। अतएव इनके विरोधी आचार्यों तक ने इनका उल्लेख बड़े सम्मान के साथ किया है। अर्थ, श्लेष, संघटना आदि से सम्वद्ध इनके स्वतन्त्र सिद्धान्त हैं जिनका उल्लेख परवर्ती आचार्य इनके नाम से कर गये हैं।

इनके ग्रन्थ 'अलङ्कारसारसंग्रह' में ६ वर्ग और ७९ कारिकाएँ

हैं। इन्होंने ४१ अलङ्कारों की गणना की है। अलङ्कारों के उदाहरण स्वरचित हैं। आचार्य मुकुल के शिष्य कोङ्कण निवासी प्रतीहारेन्दुराज ने अलङ्कारसारसंग्रह पर 'लघुवृत्ति' नामक टीका लिखी, जो अलङ्कार-ग्रन्थों पर की गई टीकाओं में सर्वप्रथम होने के कारण ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। इनका काल ९५० ई० के आसपास स्थिर होता है।

इसके बाद रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य वामन हुए और 'काव्यालंकार सूत्र' की रचना की। इनका काल ७५० ई० से लेकर ८०० ई० तक के बीच माना जा सकता है। 'काव्यालंकार सूत्र' में सूत्र, वृत्ति और उदाहरण हैं। उदाहरण इन्होंने दूसरे कवियों के संगृहीत किये हैं।

वामन ने बड़े साहस के साथ प्रचलित अलंकार-सम्प्रदाय के विपरीत **'रीतिरात्मा काव्यस्य'** की उद्घोषणा की। इन्होंने गौड़ी, पाञ्चाली और वैदर्भी इन तीन रीतियों की प्रतिष्ठा की। नाम यद्यपि प्रदेशविशेष पर अवलम्बित हैं, परन्तु उनका सीमाक्षेत्र सर्वथा स्वतन्त्र है। बाद के कुछ विद्वानों ने रीतियों की संख्या दस तक पहुँचा दी; परन्तु रीति का सम्बन्ध जब गुण नामक तत्त्व से जुड़ गया तो इस संख्यावृद्धि पर कम ज़ोर हो गया। रीति-सम्प्रदाय में पद-रचनावैशिष्ट्य की प्रधानता होने से पदरचना के गुणों और दोषों का विवेचन भी ज़ोर पकड़ने लगा। प्रारम्भ में दोषों के अभाव को ही गुण माना गया, परन्तु बाद को गुणों की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित हुई। गुणों और दोषों की संख्या भी घटती-बढ़ती रही; परन्तु अन्त में गुण तीन ही—माधुर्य, ओज, प्रसाद—माने गये। रस-सम्प्रदाय का अपना महत्त्व चला ही आता था; उसकी उपेक्षा रीति-सम्प्रदाय भी न कर सका, अतः अलङ्कारवादियों की तरह इन्होंने भी रस को गुणों के भीतर समाविष्ट करने की चेष्टा की।

ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की सातवीं-आठवीं सदी में अलङ्कार

और रीति मतों का बड़ा जोर एवं स्पर्धा थी । रीतिमत में गुणों और दोषों के विस्तृत विवेचन के फलस्वरूप गुण-सहित निर्दोष पद-विन्यास को काव्यात्मा माना गया ।

रुद्रट ने 'काव्यालंकार' की रचना ८२५ ई० और ८७५ ई० के मध्य में की होगी । इन्होंने सर्वप्रथम वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर अलङ्कारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया । इनका अलङ्कार-विवेचन भी पूर्वाचार्यों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है । रस का भी ये महत्त्व स्वीकार करते हैं—**"तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।"** तथापि ये अलङ्कारवादी ही थे । इनकी दृष्टि में रीतियाँ चार हैं । नमिसाधु की 'काव्यालंकार' पर टीका है ।

नौवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' की रचना के कारण 'काव्यशास्त्र' के इतिहास में युगान्तर पैदा हो गया । इस महान् ग्रन्थ को टीकाकार भी उतना ही महान् मिला । अभिनवगुप्ताचार्य ने दसवीं सदी के उत्तरार्ध में इस पर 'लोचन' नाम की टीका लिखकर ग्रन्थ के गौरव में चार चाँद लगा दिये । डा० काणे ने 'ध्वन्यालोक' और उसकी टीका 'लोचन' के विषय में कहा है—"अलंकारशास्त्र के इतिहास में ध्वन्यालोक युगान्तरकारी कृति है; अलङ्कारशास्त्र में इसकी वही महत्ता है जो व्याकरण में पाणिनि के सूत्रों और वेदान्त में वेदान्तसूत्रों की ।·········और अभिनवगुप्त की टीका पतञ्जलि के महाभाष्य और शंकराचार्य के वेदान्तभाष्य के तुल्य है ।"

ध्वन्यालोक में १२९ कारिकाएँ, वृत्ति अर्थात् भाष्य और पूर्व कवियों के श्लोक उदाहरण रूप में संगृहीत हैं । सम्पूर्ण ग्रन्थ चार भागों (उद्योतों) में विभक्त है । 'ध्वन्यालोक' से पूर्व रस-सिद्धान्त एक प्रकार से अव्याप्ति दोष से घिरे हुए होने की-सी स्थिति में था । 'नाटचशास्त्र' में रस का कथन जिस ढंग से किया गया है उससे यह भ्रम हो जाना स्वाभाविक था कि उसका सम्बन्ध विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों

की उपस्थिति के क्षेत्र में ही है। इस पर अलङ्कारवादियों और रीति-मतानुयायियों की बाह्यार्थनिरूपिणी दृष्टि से काव्यात्मा का प्रश्न हल होता हुआ नहीं दिखाई दिया। फुटकर आकर्षक पद्यों के विषय में यह शंका बार-बार उठती रही होगी कि इनमें काव्यत्व की व्याख्या कैसे सम्भव है? इन सभी शंकाओं का सुन्दर और व्यवस्थित समाधान ध्वनिकार ने 'रस-सिद्धान्त' के मन्तव्य को ज़रा और अधिक विकास देकर 'ध्वनि-सिद्धान्त' के रूप में प्रस्तुत किया। अतः यह कहा जाना कि 'ध्वनि-सिद्धान्त' 'रस-सिद्धान्त' का ही विकसित रूप है, सर्वथा उचित है। रस के सम्बन्ध में यह मन्तव्य स्थिर किया गया था कि वह वाच्य न होकर व्यङ्ग्य ही होता है। इसी बात को ज़रा आगे बढ़ाकर 'ध्वन्यालोक' में इस प्रकार रखा गया कि सर्वोत्तम काव्य वह है जिसमें लावण्ययुक्त व्यङ्ग्यार्थ प्रधान रहता है।

'ध्वन्यालोक' ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य और भी किया; उसने काव्य के सभी प्रतिपाद्य विषयों का उचित रीति से समन्वय किया। अतः 'ध्वनि-सिद्धान्त' एक प्रकार से सर्वमान्य-सा हो गया। परन्तु इस स्थिति में पहुँचने तक उसे प्रतिहारेन्दुराज, वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक, भट्ट-नायक और महिमभट्ट जैसे आचार्यों की तीव्र समालोचना का लक्ष्य बनना पड़ा। 'ध्वन्यालोक' का रचनाकाल ८६० ई० से ८९० ई० के बीच स्थिर होता है।

नौवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रचित राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' और मुकुलभट्ट की 'अभिधावृत्तिमातृका' नामक दो रचनाएँ और भी मिलती हैं। "काव्यमीमांसा" कवियों को विविध प्रकार की जानकारी देनेवाला एक कोष के किस्म का ग्रन्थ है। इसमें १८ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में काव्यपुरुषोत्पत्ति-सम्बन्धी आलङ्कारिक वर्णन है। विभिन्न कवियों के उदाहरण रूप में प्रस्तुत श्लोक और आचार्यों के मन्तव्यों का भी अच्छा संग्रह है। राजशेखर कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल (महीपाल)

के गुरू थे। इनकी पत्नी का नाम अवन्तिसुन्दरी था। मुकुलभट्ट प्रतीहारेन्दुराज के गुरू थे। इनके ग्रन्थ में कुल १५ कारिकाएँ हैं, जिनमें अभिधा और लक्षणा नामक दो शब्द-शक्तियों का विवेचन है।

अभिनवगुप्त के गुरु आचार्य भट्टतौत का 'काव्यकौतुक' अभी तक अनुपलब्ध है। इसका रचनाकाल ९५० ई० और ९८० ई० के बीच में अनुमानित होता है। काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में उद्धृत उद्धरणों के आधार पर उसके विषय में यह अनुमान किया जाता है कि रस-सिद्धान्त का इसमें मुख्यतया प्रतिपादन था। नाट्यशास्त्र के सम्बन्धित स्थलों का भी इसमें स्पष्टीकरण रहा होगा। यह भी मालूम होता है कि आचार्य भट्टतौत अनेक साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी स्वतन्त्र सिद्धान्तों के प्रतिपादक थे। अभिनवगुप्ताचार्य स्थान-स्थान पर **"इत्यस्मदुपाध्यायाः"** कहकर उनके मन्तव्यों का उल्लेख करते हैं। अतः इसमें सन्देह नहीं कि भट्टतौत ने अभिनवगुप्त के ऊपर और इसीलिए रस-सिद्धान्त के विवेचन में भी, महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला है।

उनके कतिपय साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं —

१. शान्त रस मोक्षदायक होने से सर्वोपरि है—**"मोक्षफलत्वेन चायं (शान्तो रसः) परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात्सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः।"—लोचन।**

२. **"प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यं नाट्य एव च वेद इत्यस्मदुपाध्यायः"**—लोचन।

३. जब कवि अपनी अलौकिक शक्ति के द्वारा पाठक को विषय का 'प्रत्यक्षवत्' करा देता है, रसानुभूति तभी होती है।—**"काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः।"—लोचन**

४. रसानुभूति कवि, नायक, और सहृदय सामाजिक को समान रूप से होती है—**"नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः"—लोचन।** अर्थात् रस-स्थिति कवि, नायक और पाठक तीनों में है।

इसके बाद ध्वनि-सिद्धान्त के समर्थ विरोधी आचार्य भट्टनायक हुए। इन्होंने ध्वनि-मत-खण्डन के लिए 'हृदय-दर्पण' लिखा जो अभी तक अप्राप्त है। भरत के प्रसिद्ध चार प्रमुख व्याख्याताओं में इनका नाम अन्यतम है। इन्होंने शब्द में अभिधा, भावना और भोगीकृति (रस-चवर्णा या भोग) ये तीन शक्तियाँ स्वीकार कर भोगीकृति को काव्यात्मा माना तथा ध्वनि को काव्यात्मा के रूप में न मानते हुए उसे स्वसंवेद्य और अनिर्वचनीय ही माना। इनका समय ६३५ से ९८५ ई० तक माना जाता है।

इसी समय आचार्य कुन्तक ने भी ध्वनि-सिद्धान्त के खण्डन के लिए 'वक्रोक्तिजीवित' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। इसमें कारिकाएँ, वृत्ति और विभिन्न कवियों के लगभग ५०० उद्धरण हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य कुन्तक की कृति मौलिकता और उच्च कोटि की साहित्यिक अभिरुचि की परिचायिका है। आचार्य भट्टतौत की तरह ये भी उत्तम काव्य का मूल स्रोत कवि की अपनी प्रतिभा को ही मानते हैं। इनके मत में वक्रोक्ति (=विचित्र अभिधा=प्रसिद्ध कथन की अपेक्षा विलक्षणता लानेवाली जो विचित्रता है वही वक्रता है—"**वक्रत्वं प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकि वैचित्र्यम्।**" अथवा सरल शब्दों में कहें तो कवि के चातुर्य या विदग्धता से चमत्कार पैदा करनेवाली वाणी वक्रोक्ति है) ही काव्य में जीवन सञ्चार करने के कारण काव्यात्मा है। वक्रोक्ति के बिना काव्यत्व की सत्ता असम्भव है। परन्तु जब तक कवि में कल्पनामयी प्रतिभा न होगी, वक्रता नहीं आ सकती। अतः 'कविव्यापार' पर बहुत ज़ोर दिया है।

कुन्तक ध्वनि या व्यंग्य की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं करते, वे इन्हें भी वक्रोक्ति की सर्वव्यापिनी सीमा में बिठाना चाहते हैं। इनका काल ९२५ ई० से १००० ई० तक कहा जा सकता है।

सोने में सुगन्धि की कल्पना सभी किया करते हैं, परन्तु इसका

सच्चे अर्थों में साक्षात् दर्शन अभिनवगुप्तपादाचार्य के चरित्र में ही होता है। भारतीय आदर्शवादी दृष्टिकोण से सच्चे कवि और समालोचक के आदर्श स्वरूप का दर्शन भारत की इस महान् विभूति में पाया जाता है। वे न केवल उच्च कोटि के प्रतिभासम्पन्न कवि ही थे अपितु साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य और प्रखर बुद्धि के दार्शनिक भी थे। उनके तपे हुए उज्ज्वल चरित्र की सुगन्धि अन्तर्वेद से काश्मीर तक सम्पूर्ण आर्यावर्त में व्याप्त थी। दार्शनिक दृष्टि, साहित्य-मर्मज्ञता, कवित्व और आस्तिक्य व तप का ऐसा एकत्र संयोग अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा पण्डितराज जगन्नाथ या फिर विश्वकवि रवीन्द्रनाथ में ही पाई जाती है। डा० काणे ने उनके सम्बन्ध में लिखा है—"Abhinavagupta is one of the most remarkable personalities of medieval India. He was a man of very acute intellect and was an encyclopaedic scholar."

अभिनवगुप्त का रचनाकाल ९८० ई० से १०२० ई० तक माना जा सकता है। इन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन अनेक गुरुओं से किया था। नाट्यशास्त्र के इनके गुरू भट्टतौत थे। ये आजन्म ब्रह्मचारी रहे। इनकी रचनाएँ तन्त्र, स्तोत्र, नाट्य और दर्शन आदि कई वर्गों में बाँटी जा सकतीं हैं। उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' पर 'अभिनवभारती' और 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' नाम की विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखीं। भट्टतौत के 'काव्यकौतुक' पर भी 'विवरण' नाम्नी टीका लिखी थी।

दसवीं शती के अन्तिम चरण में राजा मुञ्ज की सभा के अन्यतम रत्न धनञ्जय ने 'दशरूपक' की रचना की। यह ग्रन्थ नाट्य से सम्बन्ध रखता है, परन्तु इसमें रस का विवेचन भी प्रसंगवश मिलता है।

'ध्वनि-सिद्धान्त' का प्रत्याख्यान करनेवालों में राजानकमहिमभट्ट का 'व्यक्तिविवेक' भी प्रसिद्ध है। वे 'ध्वन्यालोक' की मान्यता के मूल में

ही आक्षेप करते हुए व्यञ्जना शक्ति का निषेध करते हैं। उनके मत में शब्द की एक ही शक्ति—अभिधा—है। प्रतीयमान अर्थ अनुमान की क्रिया द्वारा उपलब्ध होता है। अतः शब्द और अर्थ व्यञ्जक नहीं हो सकते। इनका काल १०२० से लेकर ११०० ई० तक माना जा सकता है।

ग्यार वीं शताब्दी (१००५ ई० से १०५४ ई० तक) में महान् विद्याव्यसनी भोजराज हुए, जिन्होंने मध्यकालीन प्रचलित सभी विद्याओं पर ८४ ग्रन्थ रचे। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृङ्गारप्रकाश' नामक दो बृहद् ग्रंथ काव्यशास्त्र से सम्बन्धित हैं। ये स्वयं तो काव्यमर्मज्ञ थे ही परन्तु कवियों के आश्रयदाता भी थे। 'शृङ्गारप्रकाश' में इन्होंने केवल शृंगार को ही रस माना है—**"शृङ्गारमेकमेव शृङ्गारप्रकाशे रसमुररीचकार"**। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' भारी संग्रह-ग्रन्थ है। भोजराज की प्रशस्ति में यह कथन बड़े महत्त्व का है—

साधितं, विहितं, दत्तं, ज्ञातं तद् यन्न केनचित्।
किमन्यत्कविराजस्य श्रीभोजस्य प्रशस्यते॥

'ध्वन्यालोक' और 'वक्रोक्तिजीवित' दोनों में 'औचित्य' की चर्चा है—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥—ध्वन्यालोक

इसी बात को लेकर क्षेमेन्द्र ने "औचित्यविचारचर्चा" नामक ग्रन्थ रच डाला। इसमें कारिकाएँ, वृत्ति और उदाहरण हैं। इनके मत में 'औचित्य' ही रस का आधारभूत है—**"औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे। रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।"** क्षेमेन्द्र ने 'कविकण्ठाभरण' आदि और भी ग्रन्थ रचे, परन्तु अलङ्कारशास्त्र में इनका कोई महत्त्व विशेष हो, यह बात नहीं। इनका समय ९९० ई० से १०६६ ई० तक है।

ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "काव्यप्रकाश"

के कर्त्ता मम्मटाचार्य हुए । इनके ग्रन्थ की महत्ता इस बात में है कि शताब्दियों से होनेवाली काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी साधना के सार को १४३ कारिकाओं में ऐसे व्यवस्थित ढंग से रख दिया कि सब कुछ पुराना होते हुए भी सर्वथा नवीन हो गया । डा० काणे के शब्दों में 'काव्यप्रकाश' साहित्यशास्त्र में 'शारीरकभाष्य' और 'महाभाष्य' की तरह नवीन प्रेरणाओं का स्रोत बन गया है । मम्मट ने अपनी अर्थगर्भित शैली में नाट्य-विषय को छोड़कर सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र के प्रतिपाद्य को समेट लिया है । यह ग्रन्थ अपनी सर्वग्राहिता के कारण भारतभर में लोकप्रिय हो गया और भगवद्गीता के बाद सर्वाधिक टीकाएँ इसी पर उपलब्ध हैं । माहेश्वर ने 'भावार्थचिन्तामणि' में कहा है—

"काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीका तथाप्येष तथैव दुर्गमः ॥"

मम्मटभट्ट काश्मीरी ब्राह्मण मालूम पड़ते हैं । कुछ लोगों का यह कहना है कि 'काव्यप्रकाश' की कारिकाएँ भरत की हैं; मम्मट केवल वृत्तिकार हैं । परन्तु यह मत प्रामाणिक नहीं है ।

रुय्यक का 'अलंकारसर्वस्व' अलंकार-विषयक प्रामाणिक ग्रन्थ है । इसकी रचना ११३५ से ११५० तक मानी जाती है । रुय्यक ध्वनि-सिद्धान्त के प्रबल समर्थकों में से हैं । जयरथ ने इस पर 'विमर्शिनी' टीका लिखी है । जयरथ १३वीं शती के प्रथम चरण में रहा होगा । रुय्यक ने इसके अतिरिक्त 'काव्यप्रकाशसंकेत', 'नाटकमीमांसा', 'साहित्य-मीमांसा', 'व्यक्तिविवेकविचार' 'सहृदयलीला' आदि अनेक ग्रन्थ लिखे । इस सबसे यह मालूम पड़ता है कि इनके समय में काव्यशास्त्र का अध्ययनाध्यापन काफी बढ़ गया था । बारहवीं शताब्दी में ही वाग्भट प्रथम, हेमचन्द्र, जयदेव और विद्याधर आदि विद्वानों ने क्रमशः 'वाग्भटालंकार', 'काव्यानुशासन', 'चन्द्रालोक' और 'एकावली' आदि संग्रह-ग्रन्थ लिखे । वाग्भट जैन विद्वान् थे और कहीं पर राजकीय मन्त्री थे ।

चौदहवीं शताब्दी में 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' और 'काव्यानुशासन'

के कर्त्ता क्रमशः विद्यानाथ और वाग्भट द्वितीय हुए। इन कृतियों को देखने से ज्ञात होता है कि हिन्दी-साहित्य की रीतिकालीन राजाओं के यशोगानवाली परिपाटी इस समय शुरू हो चुकी थी और कवि लोग 'किसी भोज' की तलाश में घूमते नज़र आने लगे होंगे। परन्तु इसी शताब्दी में (१३०० ई० से १३८४ तक) 'साहित्यदर्पण' के प्रख्यात कर्त्ता विश्वनाथ हुए, जिन्होंने एक ही ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र तक को समेट लिया। विश्वनाथ उड़िया ब्राह्मण थे और संस्कृत के सिवाय प्राकृत के भी विद्वान् थे। यद्यपि इनका ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' संग्रह-ग्रन्थ ही है फिर भी उसका अपना महत्त्व है। आनन्दवर्धन, मम्मट और जगन्नाथ के ही समान विश्वनाथ का भी स्थान काव्यशास्त्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है।

पन्द्रहवीं शताब्दी में भानुदत्त ने 'रसमञ्जरी' और 'रसतरङ्गिणी' नामक दो ग्रन्थ प्रस्तुत किये। परन्तु इनका महत्व विशेष नहीं है। हाँ, रूपगोस्वामिन् के 'भक्तिरसामृतसिन्धु' और 'उज्वलनीलमणि' ग्रन्थों का महत्त्व इसलिए है कि इन्होंने चैतन्य की भक्ति-धारा से प्रभावित होकर भक्ति-रस को इस सिद्धान्त के अन्तर्गत महत्त्व दिलाने के लिए इनकी रचना नवीन शैली से की। रूपगोस्वामिन् का समय १४७० से १५५४ तक माना जा सकता है। रूपगोस्वामिन् की पद्धति न तो संस्कृत में और ना ही हिन्दी के भक्ति-काव्य में प्रतिष्ठित हो सकी।

सोलहवीं शताब्दी में केशवमिश्र ने 'अलङ्कारशेखर' और अप्पयदीक्षित ने 'वृत्तिवार्तिक', 'कुवलयानन्द' और 'चित्रमीमांसा' नामक काव्यशास्त्र से सम्बन्धित तीन ग्रन्थ लिखे। अप्पयदीक्षित का समय १५५४ से १६२६ ई० माना जाता है। ये धुरन्धर विद्वान् थे और इन्होंने शताधिक ग्रन्थों की रचना की है। ये तामिल ब्राह्मण थे। इनका 'चित्रमीमांसा' आलोचनात्मक एवं गम्भीर शैली का ग्रन्थ है।

संस्कृत-साहित्यमहोदधि में अपने चिन्तन के सार की सरिता को उँडेलने वाले धुरन्धर विद्वानों की महान् शृङ्खला की महान् अन्तिम

कड़ी के रूप में पण्डितराज जगन्नाथ को पाते हैं। हम देखते हैं कि सुदूर देशवासी यह तैलङ्ग ब्राह्मण अपनी प्रखरप्रतिभा के बल पर शाहजहाँ के वैभवशाली मुगल दरबार में देववाणी के रस को प्रवाहित कर सम्राट् को चकित कर देता है। विपरीत परिस्थितियों में भी संस्कृत भाषा के माधुर्य की ध्वजा को फहरानेवाले पण्डितराज अपने-जैसे एक ही थे। ये सच्चे अर्थों में रसिक थे और सदा आत्मसम्मान एवं स्वात्माभिमान की सुरा को पिये रहते थे। 'रसगङ्गाधर' इनका प्रामाणिक ग्रन्थ है। काव्यशास्त्र में 'ध्वन्यालोक' और 'काव्यप्रकाश' के बाद इसी का नम्बर है। प्रवाहमयी संस्कृत लिखने में ये सिद्धहस्त थे। अभिनवगुप्त की तरह ये कवि और समालोचक दोनों ही थे। इनका समय १६२० से १६६० ई० तक है। स्वाभिमान के कारण इन्होंने दूसरों के उद्धरण देना पसन्द नहीं किया—

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित् ।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥

रस-सम्प्रदाय

ब्द की यात्रा

स' शब्द की जीवन-यात्रा दर्शनीय है। वेदों के सोमरस से चल-ुनिक हिन्दी के ठेठ 'रसिया' तक हज़ारों वर्षों में युगों की दीर्घता को तय करनेवाले इस पथिक ने अपने मनोरंजक इतिहास का निर्माण किया है। इतने लम्बे समय में इसने अपने रूप और आशय को जिस रक्षित रखा है वह आश्चर्य का विषय है। अनुभव और ज्ञान की गरिमा को लेकर भी प्रौढ़ पुरुष जिस प्रकार अपनी सम्पूर्णता की एकता का प्रतीक होता है उसी प्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्माशय होता गया भी रस शब्द अपने अर्थ की मूल भावनाओं का सदा प्रतिनिधि बना रहा है। रस के इतिहास को देखकर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इसका अर्थ स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होना रहा तो भी सभी अवस्थाओं में इसके अर्थ की मूल भावनाएँ अपरिवर्तित ही रहीं। वे ये हैं—

(क) द्रवत्व (ख) स्वाद और (ग) सार या निष्कर्ष। वैदिक सोम रस का रस शब्द जिस प्रकार द्रवत्व, स्वाद और निष्कर्ष का द्योतक है उसी प्रकार 'गन्ने के रस' में प्रयुक्त रस भी उक्त तीनों भावों का सूचक है।

व्याकरण के आधार से व्युत्पत्ति द्वारा भी उक्त भावों का स्पष्टीकरण होता है :—

(क) **सरते इति रसः** (जो बहता है)।

(ख) **रस्यते आस्वाद्यते इति रसः** (जिनका आस्वाद लिया जाता है)।

(ग) और तीसरा भाव सोमरस एवं गन्ने के रस में है ही—क्योंकि दोनों किसी द्रव्य को निचोड़कर प्राप्त किये गये हैं।

प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में 'रस' शब्द का प्रयोग प्रचुरता से हुआ मिलता है :—

(क) **“रसा दधीत वृषभम्।”**

(ख) **“यस्य ते मद्यं रसम् ।”**

(ग) **“भरद्धेनरसवच्छिश्रिये ।”**

इन तीनों मन्त्र-खण्डों में रस शब्द दुग्ध (स्वादयुक्त द्रव), सोमलता का निष्कर्ष रूप द्रव और ‘मधुर-आस्वाद-युक्त’ इन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

उपनिषदों में भी यह शब्द अधिकता से प्रयुक्त हुआ है :—

(क) **“प्राणोहि वा अङ्गानां रसः”** (प्राण निश्चय से अङ्गों का सार तत्त्व है।) ॥**बृहदारण्यक** ॥

(ख) “जिह्वया हि रसं विजानाति।” (जिह्वा से आस्वाद को जानता है) ॥ **बृहदारण्यक** ॥

(ग) **“न जिघ्रति न रसयते।”** (न सूँघता है न आस्वाद लेता है) ॥ **प्रश्नोपनिषद्** ॥

आगे चलकर उपनिषदों में ही ‘रस’ शब्द के सार और आस्वाद इन दो अर्थों के मेल से एक नवीन अर्थ—‘सर्वोत्तम आस्वाद अर्थात् आनन्दात्मक अनुभव’—का प्रस्फुटन हो गया। और **‘रसः सारः चिदानन्दप्रकाशः’** इस प्रकार उसका अर्थ किया गया—

(क) **“रसो वै सः”** (वह निश्चय से सारभूत आनन्दात्मक है) ॥ **तैत्तिरीयोपनिषद्** ॥

(ख) **“रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति”** (यह सारभूत आनन्द को ही प्राप्त करके आनन्दित होता है) ॥ **तैत्तिरो०** ॥

(ग) **“एतद्वै सत्त्वस्य रूपं तत्सत्त्वमेवेरितं रसः । स संप्रास्त्रवत् ।”** (रामकृष्ण की टीका में इसका अर्थ इस प्रकार दिया गया है——**‘तत्परेणात्मना पूर्ववदीरितं सत्त्वमेव, न तमोरजसी ! तयोः वक्ष्यमाणार्थाभिव्यञ्जकत्वासामर्थ्यात्। रसः सारः चिदानन्दप्रकाशः········स संप्रास्नवत् सम्यक् प्राकट्येन**

> अस्रवत् । सत्त्वमेव चिद्रात्मनो विशेषाकाराभिव्यक्तियोग्याकारतया प्रसृतम् । सद्रात्माकारमेव विप्रसृतमित्यर्थः ।'
> ॥ मैत्र्युपनिषद् ॥

उपनिषदों में 'रस' शब्द को उस "पूर्ण आनन्द" के आस्वाद में प्रयुक्त देखकर, जिसका योगी आत्मसाक्षात्कार के समय अनुभव करते हैं, साहित्यिक समालोचकों के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वे इस शब्द का उस कलात्मक आनन्द (Æsthetic Pleasusre) के अर्थ में प्रयोग करें, जिसका शिष्ट तथा सहृदय दर्शक उस समय अनुभव करते हैं जब वे निपुण अभिनेताओं के अभिनय से प्रदर्शित, पात्र, परिस्थिति, तथा घटनाओं में आत्मविस्मृत होकर तन्मय हो जाते हैं।

रस-सिद्धान्त का क्रमिक इतिहास

काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि उसका प्रारम्भ ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी में भरतमुनि के 'नाटचशास्त्र' की रचना के साथ होता है। यहीं सर्वप्रथम 'रस' शब्द का पारिभाषिक प्रयोग भी मिलता है। उन्होंने वाचिक अभिनय के प्रसङ्ग में -"**विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**"—इस सूत्र का कथन किया है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के नाटक में ही प्रत्यक्ष होने के कारण कतिपय परवर्ती आचार्यों ने इसका क्षेत्र नाटक तक सीमित मान लिया। इस कारण अलङ्कारवादियों द्वारा परिचालित संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास की धारा इसके सिवाय और तत्त्वों में काव्यात्मा खोजती हुई बह चली। विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार अलङ्कार, रीति, गुण और वक्रोक्ति को काव्यात्मा ठहराते हुए विवेचन किया। परन्तु रस की स्वयंसिद्ध विशिष्ट सत्ता के कारण ज्यों-ज्यों ये विवेचन आगे बढ़ते गये त्यों-त्यों रस का महत्त्व स्पष्ट होता गया। इसी अवसर पर आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि-सम्प्रदाय की स्थापना करते हुए अलङ्कारवादियों की बाह्यसाधनामूलक भ्रान्तियों का अन्त कर

दिया। उन्होंने ध्वनि के अन्तर्गत रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि ये तीन विभाग किये, फिर भी इनमें प्रधानत्व रस को ही दिया और उसकी अव्याप्ति का भी परिहार कर दिया, जिससे स्फुट पद्यों में भी काव्यत्व प्रतिष्ठित हो सका।

इसके पश्चात् अभिनवगुप्त ने रस-सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक व्याख्यान करते हुए तद्विषयक अनेक भ्रान्तियों को स्पष्टतया सुलझाया, जिससे रस-सिद्धान्त पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ।

काव्यशास्त्र में रस का स्थान

अन्ततोगत्वा ईसा की दसवीं शती में आचार्य मम्मट आदि विद्वानों ने ध्वनि आदि सभी काव्य-तत्त्वों का उचित समाहार करते हुए काव्यशास्त्र को व्यवस्थित किया एवं रस को उसके स्थान पर समाविष्ट किया। उनके काव्य के लक्षण की यह विशेषता है कि अलङ्कार और गुण आदि का सम्यक् स्थान-निर्देश कर समन्वय किया गया है। देखिये—“**तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृतिः पुनः क्वापि** ॥” अर्थात् काव्य के शब्द और अर्थों में तो दोष तो होवे ही नहीं, गुण अवश्य हों, चाहे अलङ्कार कहीं-कहीं न भी हों। काव्य के उन्होंने (१) उत्तम (ध्वनि-काव्य) (२) मध्यम और (३) अधम ये तीन भेद किये। इनके लक्षण निम्न प्रकार हैं:—

(*i*) उत्तम काव्य—“**इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः** ।” अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ के उत्कर्षवाला होने पर काव्य विद्वानों के द्वारा उत्तम कहा गया है।

(*ii*) मध्यम काव्य—“**अतादृशि गुणीभूतव्यंग्य व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्** ।” अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ के ऐसा न होने पर (वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ के अधिक उत्कर्षवाला न होने पर) किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के गुणीभूत (अप्रधान रूप से) होकर प्रतीयमान होने पर, काव्य मध्यम कहा गया है।

(*iii*) अधम काव्य—“**शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्य त्ववरं स्मृतम्** ।’

अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ से रहित शब्दचित्र और वाच्यचित्र वाला काव्य अधम कहा गया है।

तत्पश्चात् उत्तम, मध्यम और अधम काव्यों के भेदों का निरूपण कर उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण किया। उत्तम काव्य के प्रथम दो भेद किये हैं—(१) अविवक्षितवाच्य (लक्षणा-मूलक) और (२) विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलक)। इसमें प्रथम के दो भेद (१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और (२) अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य होते हैं। और दूसरे विवक्षितान्यपरवाच्य के (१) संलक्ष्यक्रमध्वनि और (२) असंलक्ष्यक्रमध्वनि ये भेद किये। बस यहाँ आकर उन्होंने असंलक्ष्यक्रमध्वनि के प्रसंग में रस का विस्तृत विवेचन किया है। कोष्ठक द्वारा भी उक्त भेद समझे जा सकते हैं :—

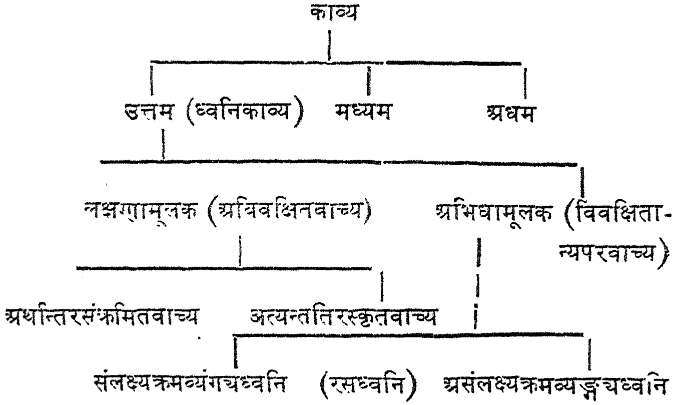
काव्य
उत्तम (ध्वनिकाव्य)
मध्यम
अधम
लक्षणामूलक (अविवक्षितवाच्य)
अभिधामूलक (विवक्षितान्यपरवाच्य)
अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य
अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य
संलक्ष्यक्रमव्यंगयध्वनि
(रसध्वनि)
असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि

उपलब्ध सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि रस-सिद्धान्त के लिए काव्यशास्त्र भरतमुनि के नाटयशास्त्र पर ही निर्भर है। अतः

रस का निरूपण

दसवीं शती में आकर मम्मट ने इसके निरूपण के लिए भरत का वही सूत्र—'**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**'—रखा। इसका सामान्य

अर्थ है—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। विभावादि क्या है, इसका स्पष्टीकरण निम्न कारिकाओं में करते हुए रस की अभिव्यक्ति का प्रतिपादन किया :—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ।
विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥

लोक में इत्यादि स्थायीभावों (ललनादि विषयक प्रीति-इत्यादि-रूप अविच्छिन्न प्रवाहवाले मानसिक व्यापारों) के जो आलम्बन (प्रीति के आश्रयभूत ललना आदि) और उद्दीपन (प्रीति के पोषक चन्द्रोदय आदि) नामक दो कारण, तथा कटाक्ष, भुजाक्षेप, आलिङ्गन आदि कायिक, वाचिक एवं मानसिक कार्य, और शीघ्रता से उनकी प्रतीति करानेवाले निर्वेदादि सहकारी भाव हैं। वे यदि नाटक और काव्य में प्रयुक्त हों तो उन्हें क्रमशः विभाव (स्वाद लेने योग्य), अनुभाव (अनुभव में लाने योग्य) और व्यभिचारी भाव (विशेष रूप से हृदय में सञ्चार कराने योग्य) कहते हैं। इन्हीं विभावादि के संयोग होने पर व्यञ्जनावृत्ति से अभिव्यक्त स्थायीभाव रस कहाता है। विश्वनाथ ने भी इसी प्रकार स्पष्ट किया है :—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ॥ साहित्यदर्पण ॥

भाव अनुभाव और व्यभिचारी क्या हैं ?

इसको ज़रा खोलकर रखने की आवश्यकता है। इस विविध संसार में मनुष्य नाना प्रकार के पदार्थों को देखता, सुनता और अनुभव करता है। इन अनुभवों के संस्कार, जिन्हें वासना भी कहते हैं, मन में सञ्चित होते रहते हैं। अनुभूति क्षणिक होने से नष्ट हो जाती है, परन्तु संस्कार जन्म-जन्मान्तर के इकट्ठे होते रहते हैं। अतः

ये संख्यातीत हैं, इनकी गणना नहीं की जा सकती। फिर भी प्राचीन आचार्यों ने इनका भय, अनुराग (रति), करुणा (शोक), क्रोध, आश्चर्य, उत्साह, हास, घृणा (जुगुप्सा) और निर्वेद के रूप में वर्गीकरण करने का यत्न किया है। ये संस्कार अन्तःकरण के भाव भी कहे जा सकते हैं। प्रेक्षक के मन में स्थित ये ही भाव रसों के बीजभूत हैं।

भाव

इसके अतिरिक्त 'भाव' शब्द पारिभाषिक अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इसके अनुसार देवता, गुरु, राजा आदि विषयक रति तथा प्रधान रूप मे व्यञ्जित व्यभिचारी को भी भाव कहते हैं। इस प्रकार भाव संज्ञा निम्न तीन की हुई—[१] उद्बुद्धमात्र (जो रसत्व को प्राप्त नहीं हुए ऐसे) संस्कार [२] देवादिविषयक रति या प्रेम और [३] प्राधान्येन ध्वनित होने वाले संचारी।

संचारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥ साहित्यदर्पण॥

रस-परिपाक-प्रक्रिया में उद्बुद्धमात्र संस्कारों के दो भेद—[१] स्थायीभाव और [२] संचारीभाव किये गये हैं। जो सजातीय एवं विजातीय भावों से विच्छिन्न न हों, अर्थात् जिनमें स्थिरता हो वे स्थायीभाव कहाते हैं। मनोवैज्ञानिकों की भाषा में इन्हें मूलभाव (Sentiments) कह सकते हैं। इसके सिवाय जो भाव सामयिक रूप से बीच-बीच में संचरण कर स्थायी भावों को पुष्ट करें वे संचारीभाव हैं। विश्वनाथ ने स्थायी और संचारी भावों का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

स्थायीभाव

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः॥
—साहित्यदर्पण।

अर्थात् अविरुद्ध एवं विरुद्ध भाव जिसका गोपन न कर सकें और आस्वाद के अंकुर का जो मूलभूत हो वह स्थायीभाव है।

व्यभिचारी भाव

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः ॥
—साहित्यदर्पण ॥

स्थायीभाव में उन्मग्न (आविर्भूत) निर्मग्न (तिरोभूत) होकर संचरण करने वाले भाव विशेष प्रकार से अभिमुख होकर—अनुकूल होकर—चलने के कारण व्यभिचारी कहे जाते हैं। ये तैंतीस हैं। अस्तु।

उपर्युक्त भावों में आस्वादन की योग्यता का अंकुर विभावों के आश्रय से प्रादुर्भूत होता है। विभाव भी दो प्रकार के हैं—(१)आलम्बन, जो भावों के आलम्बन बनते हैं, जैसे नायक-नायिका आदि और (२) उद्दीपन, जो भावों को उद्दीप्त अर्थात् उत्तेजित करते हैं, जैसे वसन्त, उद्यान, चन्द्रोदय आदि।

अनुभाव क्या हैं ?

भावजागृति के पश्चात् होने वाले अंगविकारों को अनुभाव कहते हैं। अनुभावों से नायक-नायिका को एक-दूसरे के भावों को जानने में सहायता मिलती है। इनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार कर सकते हैं—अनु पश्चात् भावान् भावयन्ति बोधयन्ति इति अनुभावाः। विश्वनाथकृत अनुभावों का लक्षण है—

> **"यः खलु लोके सीतादिचन्द्रादिभिः स्वैः स्वैरालम्बनोद्दीपनकारणै-रामादिरन्तरुद्बुद्धं रत्यादिकं बहिः प्रकाशयन्कार्यमित्युच्यते, स काव्यनाट्ययोः पुनरनुभावः ।" साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद ।**

अर्थात् सीता आदि आलम्बन तथा चन्द्रादि उद्दीपन कारणों से राम आदि के हृदय में उद्बुद्ध रति आदि का बाहर प्रकाशित करने वाला लोक में रति का जो कार्य कहाता है वही काव्य और नाटक में अनुभाव है। उद्बुद्ध रति आदि के प्रकाशक कार्य निम्न हो सकते हैं—

उक्ताः स्त्रीणामलङ्काराः अङ्गजाश्च स्वभावजाः ।
तद्रूपाः सात्त्विका भावास्तथा चेष्टाः परा अपि ॥ सा० द० ॥

अर्थात् स्त्रियों के अंगज तथा स्वभावज अलंकार, सात्त्विक भाव और रति आदि से उत्पन्न अन्य चेष्टायें अनुभाव कहाती हैं। सारांश यह कि आलम्बन तथा आश्रय के कार्य अनुभाव हैं। परन्तु यहाँ पर इतना विवेक करना अभीष्ट है कि रस को उद्दीप्त करने वाली चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत मानी जायेंगी। जैसे कटाक्ष यदि रस को उद्दीप्त करने वाला हो तो वह उद्दीपन विभाव है, अन्यथा यदि वह उद्बुद्ध रति का प्रकाशकमात्र है तो उसे अनुभाव ही समझना चाहिए। जैसा कि रसतरंगिणी में कहा है—**"ये रसान् अनुभावयन्ति, अनुभवगोचरतां नयन्ति तेऽनुभावाः कटाक्षादयः कारणत्वेन। कटाक्षादीनां करणत्वेनानुभावकत्वं, विषयत्वेनोपद्दीपनविभावत्वम्।"**

अनुभाव अनन्त हो सकते हैं। तो भी उनका विभाजन किया गया है जो निम्न कोष्ठक से स्पष्ट हो सकेगा—

(**अगले पृष्ठ पर देखें**)

अनुभाव

- १ स्त्रियों के यौवन के अलंकार [२८] ... २८
  - १ अंगज हाव, भाव, हेला ३
  - २ अयत्नज शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य ...७
  - ३ स्वभावज लीला, विलास, विच्छित्ति, बिब्बोक, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विकृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित, केलि १८
- २ सात्त्विक भाव (**अन्तःकरणस्य धर्मविशेषः सत्त्वः, तस्य भावः सात्त्विकः**) स्तम्भ, प्रस्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथू, अश्रु, प्रलय, वैवर्ण्य ८
- ३ कायिक विभिन्न शारीरिक चेष्टाएँ ... ... अनन्त
- ४ मानसिक प्रमोद आदि मनोवृत्तियाँ ... ... ,,
- ५ वाचिक उक्ति रूप में प्रकट किए गये कार्य ... ... ,,
- ६ आहार्य वेश-विन्यास आदि ... ... ,,

रस-निष्पत्ति क्रम

इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के सम्मिलित रूप से नट द्वारा उपन्यस्त किये जाने पर दर्शक के मन में एक तीव्र आनन्दानुभूति का संचार होता है । यही रस या काव्यानन्द है । रस-अभिव्यक्ति का स्पष्टीकरण करने के लिए विद्वान् लोग निम्न प्रकार से उदाहरण दिया करते हैं: —

"वेश-भूषा आदि से सुसज्जित नट-नटी दुष्यन्त और शकुन्तला का रूप धारण करके दर्शक के सामने आते हैं । रमणीय तपोवनकुञ्जों में दुष्यन्त और शकुन्तला का सम्मिलन होता है (दुष्यन्त और शकुन्तला परस्पर आलम्बन विभाव और तपोवन की प्रफुल्लित लताकुञ्जें आदि उद्दीपन विभाव हैं) । दोनों एक-दूसरे के रूप-लावण्य पर मोहित हो उत्सुक नेत्रों से रूप-रस का पान करते हैं । प्रथम दृष्टिपात के पश्चात् शकुन्तला को जब सुध होती है तो वह आरक्तमुख होकर चल देती है, परन्तु हृदय की उत्कण्ठा को न दबा सकने के कारण तिरछी नज़र से दुष्यन्त को देखती जाती है । (प्रेमी-प्रेमिका का परस्पर मुग्धभाव से देखना, लज्जावश आरक्त-मुख होना आदि अनुभाव हैं) । आश्रम में जाकर विरहतप्ता शकुन्तला प्रिय की स्मृति से कभी चिन्तित, कभी निराश और कभी अनमनी हो उठती है और क्षणभर के लिए प्रिय-मिलन की कल्पना से आनन्दविभोर हो जाती है (आकस्मिक रूप से उठकर विलुप्त होने वाले स्मृति, चिन्ता, आशा, निराशा आदि भाव व्यभिचारी हैं) । ठीक समय पर काम करने वाली प्रियंवदा आदि सखियों के सत्प्रयत्न से शकुन्तला और दुष्यन्त का पुनर्मिलन होता है ।"— रंगशाला के कलापूर्ण भव्य वातावरण में संगीत, कविता आदि नाट्य-धर्मियों के सहयोग से जब यह सम्पूर्ण दृश्य (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का संयोग) प्रेक्षक के सामने आता है तो उसके हृदय

में वासना रूप से स्थित रत्यादि स्थायीभाव उद्बुद्ध होकर उस चरम सीमा तक उद्दीप्त हो जाते हैं जिससे कि वह देश-काल की सुध-बुध भूलकर तन्मय हो जाता है। चरमावस्था को प्राप्त उसका यह भाव उसे 'आनन्दमयी चेतना' में निमग्न कर देता है। यही 'आनन्दमयी चेतना' रस है। कोष्ठक रूप में इसे हम निम्न प्रकार से रख सकते हैं:—

(**अगले पृष्ठ पर देखें**)

स्थायीभाव	विभाव		अनुभाव	संचारीभाव
(मूलभाव या बीज)	आलम्बन विभाव (उत्पादक कारण)	उद्दीपन विभाव (उद्दीपनकर्ता)	उद्‌बुद्ध रत्यादि को बाहर प्रकट करने वाले कार्य	सहकारी कारण
नायक नायिका की पारस्परिक रति आदि अर्थात् अनुराग आदि	नायक और नादिका दुष्यन्त वा शकुन्तला	रमणीय तपोवन, लता-कुञ्जें आदि आह्लादक प्रकृति	मुग्धभाव से देखना, लज्जावश आरक्त मुख होना आदि	स्मृति, चिन्ता, आशा, निराशा आदि

भरत मुनि का सूत्र तथा रस-प्रक्रिया

आद्याचार्य भरत के सूत्र के उपरिलिखित स्पष्टीकरण से यह बात निर्विवाद रूप से सामने आई कि रस आनन्दस्वरूप अर्थात् एक आनन्दमयी चेतना है। परन्तु सूत्र से यह स्पष्ट नहीं होता है ? कि रस की स्थिति किसमें रस की मूल-स्थिति का अन्वेषण करते हुए विभिन्न आचार्य सूत्रगत 'संयोग' और 'निष्पत्ति' इन दो शब्दों का व्याख्यान अपने अपने ढङ्ग से करते हैं। यदि 'संयोग' और 'निष्पत्ति' की वैज्ञानिक व्याख्या सामने आ जाय तो रस की मूल स्थिति किसमें है, और रस का स्वरूप क्या है, इन दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का विज्ञान-सम्मत उत्तर मिल जायेगा; क्योंकि रस-परिपाक की प्रक्रिया में उक्त दोनों शब्दों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या ही रस-सिद्धान्त को वैज्ञानिक रूप दे सकती है।

सामान्यतया देखने पर यह प्रतीत होता है कि रस की स्थिति किसमें है। इस प्रश्न का उत्तर बिल्कुल ही स्पष्ट है; और वह यह कि रसस्थिति स्पष्टतया दर्शक में है। वही रस का भोक्ता है; क्योंकि दर्शक ही नाटक देखने जाता है। परन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर साहित्य की अत्यन्त मौलिक समस्या––"रस का मूल भोक्ता कौन है ?"—प्रश्न बनकर सामने आ जाती है। नाटक और काव्य से सम्बद्धित सिर्फ दर्शक ही नहीं है, अपितु कविकृत पात्र, पात्रों की भूमिका लेने वाले नट-नटी और कविकृत पात्रों के मूल पुरुष (ऐतिहासिक दुष्यन्त आदि) सभी हैं। आज का अध्येता मनोविज्ञान की 'टार्च' लेकर बड़ी सूक्ष्मता से रस-स्रोतों की खोज करता है और प्राचीन संस्कृत के आचार्यों ने भी एतद्विषयक बड़ी माथापच्ची की है।

अतः अब हमारा अध्ययन दो भागों में विभक्त हो जाता है। प्रथम

प्रस्तुत प्रश्न

तो हमें यह देखना है कि रस-परिपाक-प्रक्रिया में 'संयोग' और और 'निष्पत्ति' का क्या अर्थ है, जिससे यह स्पष्ट हो जाये कि रस की स्थिति किसमें है ? द्वितीय रस का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है ?

[१] रस-भोक्ता कौन है और रस की स्थिति किसमें है ?

मीमांसकसम्मत भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

भरतसूत्र की व्याख्या करते हुए रस-सिद्धान्त का स्पष्टीकरण जिन प्रमुख विद्वानों ने किया है उनमें भट्टलोल्लट सर्वप्रथम हैं। ये मीमांसक विद्वान् थे। रस की व्याख्या करते हुए इन्होंने मूल रसस्थिति ऐतिहासिक नायक-नायिका में मानकर प्रश्न को उलझा दिया। सामाजिक में रसानुभूति को गौण स्थान देना उचित नहीं प्रतीत होता। हाँ, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इन्होंने दूसरे के आनन्द को देखकर आनन्द अनुभव करने की मान्यता की स्थापना कर मानव-सुलभ-सहानुभूति के तत्त्व को महत्त्व प्रदान किया है, तथा नट-नटी में भी रस की स्थिति को मानकर अभिनयकला की सफलता के लिए उनके तल्लीन हो जाने के मान्य सिद्धान्त की स्थापना की है। भट्टलोल्लट का मत निम्न प्रकार से है :—

"(विभावैः) ललना उद्यानादि आलम्बन व उद्दीपन कारणों से (जनितः) उत्पादित, एवं (अनुभावैः) भुजाक्षेप आदि कार्यों से (प्रतीतियोगः कृतः) जानने योग्य किया गया और (व्यभिचारिभिः) निर्वेदादि सहकारियों से (उपचितः) पुष्ट किया गया (रत्यादिकोभावः) जो रत्यादि स्थायीभाव है सो, (मुख्यया वृत्त्या) वास्तविक सम्बन्ध से तो (रामादावनुकार्ये) रामादि अनुकार्यों में और (तद्रूपतानुसन्धानात् नर्त्तकेऽपि) अनुकार्य के सादृश्य का अनुसन्धान करने के कारण नट में भी (प्रतीयमानः) प्रतीत होने वाला, (रसः) रस है।"

इसका विश्लेषण करने से रस-परिपाक-प्रक्रिया का स्वरूप निम्न प्रकार से मालूम पड़ता है :—

१. रामादि नायक-नायिका रूप अनुकार्यों में विभाव (आलम्बन एवं उद्दीपन), अनुभाव व सहकारी कारणों से स्थायीभाव क्रमशः उत्पन्न, उद्दीप्त, प्रतीत और पुष्ट होता है। यही स्थायीभाव रस है। और अनुकार्यों में ही उत्पन्न होने के कारण प्रधान रूप से उन्हीं में स्थित होता है।

२. जब नट-नटी रंगमंच पर अनुकार्यों का अनुकरण करते हैं तो सामाजिक नटों में भी अनुकार्यों और उनके रस का आरोप कर लेता है। इस आरोप के कारण उसे रस प्रतीत होने लगता है।

३. सामाजिक को रस की प्रतीति से ही रस (आनन्द) मिलने लगता है। अतः सामाजिक का रस प्रतीतिजन्य है।

इस पर से भट्टलोल्लट की निम्न मान्यताओं का पता चलता है :—

(क) रस की स्थिति मूल ऐतिहासिक नायक-नायिका में होती है। नट द्वारा इसे रंगमंच पर दिखाया जाता है। अतः नट में भी रस-स्थिति गौण रूप से है जो प्रेक्षक द्वारा आरोपित है। इसके बाद प्रेक्षक में रस-स्थिति प्रतीतिजन्य होती है, अर्थात् रस की वास्तविक स्थिति तो है नायक-नायिका में, और प्रेक्षक में है संक्रमित रूप से। नट माध्यम है।

(ख) 'ऐतिहासिक नायक-नायिका' और 'कवि-अंकित नायक-नायिका' में वह कोई अन्तर नहीं मानते। वस्तुतस्तु सभी प्राचीन संस्कृत-विद्वानों की यही मान्यता रही है। उनकी वाह्यार्थनिरूपिणी दृष्टि ने कवि के व्यक्तित्व को कभी भी पूरी तरह नहीं आँका।

आधुनिक आलोचक कवि के व्यक्तित्व को महत्त्व देते हुए कवि की कृति को कवि की अनुभूति का मूर्त रूप मानते हैं। काव्य में जिन नायक-नायिकाओं का चित्रण किया जाता है वे ऐतिहासिक चरित्रों के प्रतिरूप

समझे जा सकते हैं। 'शाकुन्तलम्' में जो दुष्यन्त और शकुन्तला क्रीड़ा कर रहे हैं वे कालिदास की मानस-सन्तति हैं और मूल राजा दुष्यन्त और तापस-वन-विहारिणी शकुन्तला से भिन्न हैं। भट्टलोल्लट की सबसे बड़ी भ्रान्ति यही है कि वह उन्हें एक ही समझने के कारण ऐतिहासिक मूल नायक-नायिका में उत्पन्न रस को काव्य-अंकित नायक-नायिका में भी समझ लेता है। जब कवि-अङ्कित पात्र ऐतिहासिकों से भिन्न हैं तो काव्य में रस की स्थिति सम्भव ही नहीं बन पड़ती।

इसके अतिरिक्त लोल्लट की मान्यता में एक भारी कमी और भी है। यदि रस की स्थिति प्रधान रूप से लोक में चलते-फिरते मूल नायक-नायिकाओं में ही है तो कविकल्पना-जन्य पात्रों वाले काव्यों-नाटकों में भी रस सम्भव नहीं हो सकता।

कुछ लोग भट्टलोल्लट के मत पर यह भी आक्षेप कर सकते हैं कि नायका-नायिका को रसानुभव करते देख प्रेक्षक को आनन्दाभूति कैसे हो सकेगी ? यदि शृंगार का प्रसंग हुआ तो क्या लज्जा का अनुभव नहीं होगा ? परन्तु आधुनिक मनोवैज्ञानिक इस शंका का समाधान यह कहकर कर देते हैं कि मानव-सुलभ सहानुभूति के द्वारा दूसरे के आनन्द को देखकर आनन्दानुभूति सम्भव हो जाती है।

एक प्रमुख आपत्ति यह भी उठाई जाती है कि रस 'कार्य' कैसे हो सकता है ? अर्थात् विभावादि कारणों का कार्य 'रस' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि हम देखते हैं कि कारण के विनष्ट हो जाने पर भी कार्य रहता है ; पर यहाँ ऐसा नहीं होता। यहाँ तो रस तभी तक रहता है जब तक विभावादि कारण रहते हैं। अतः विभावादि और रस में कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

लोल्लट के बाद उक्त सूत्र के व्याख्याता श्री शंकुक का मत रखा जाता है। ये नैयायिक थे। इन्होंने लोल्लट के मत पर यह आक्षेप कर

नैयायिकसम्मत शंकुक का अनुमितिवाद

कि नायक के आनन्द को देखकर प्रेक्षक को आनन्दानुभूति नहीं हो सकती; वास्तव में मनोविज्ञान-सिद्ध सहानुभूति के तत्त्व का निषेध कर दिया। प्रेक्षक रस को अनुमान द्वारा प्राप्त करता है, इनकी यह बात भी लोगों को बहुत कम जँची। अतः इनके मत ने रस-सिद्धान्त की गुत्थी को सुलझाने में विशेष योग नहीं दिया। इन्होंने अपने मत को भारी शब्दाडम्बर के साथ रखा :—

"दर्शक को नट में जो "यह राम है" (रामोऽयमिति) ऐसी प्रतीति होती है वह "राम ही यह है" "यही राम है" (राम एवाऽयम्, अयमेव रामः) ऐसे सम्यक् ज्ञान से, (उत्तरकालिके बाधे) पीछे से बाधित होने वाले (न रामोऽयमिति) "यह राम नहीं है" इस मिथ्या ज्ञान से, (रामः स्याद्वा न वाऽयमिति) "यह राम है अथवा नहीं है" इस संशय-ज्ञान से और (रामसदृशोऽयमिति) "यह राम के समान है" इस सदृशज्ञान से (विलक्षणः) विलक्षण है।

दर्शक द्वारा (नटे) नट में (चित्रतुरगादिन्यायेन) "चित्रलिखित घोड़े में घोड़े का ज्ञान होता है" इस न्याय से (रामोऽयमिति) "यह राम है" इस (प्रतिपत्त्या) ज्ञान के (ग्राह्ये) ग्रहण किये जा चुकने पर, नट "सेयं ममांगेषु" तथा "दैवादहमद्य" इत्यादि श्लोकों का पाठ करता है।

नट (इत्यादि काव्यानुसन्धानबलात्) उक्त काव्यसम्बन्धी अर्थों की प्रतीति के बल से तथा (शिक्षाभ्यासनिर्वातित) अभिनय के शिक्षण एवं अभ्यास के ज़ोर से सम्पादित (-स्वकार्यप्रकटनेन च—, अपने कार्य को अच्छी तरह से प्रकाशित करके दिखाता है।

उस (नटेनैव) नट के द्वारा (प्रकाशितैः) प्रस्तुत किये गये (कारण-कार्यसहकारिभिः) कारण, कार्य और सहकारी भाव, जो (विभावादि-शब्दव्यपदेश्यैः) नाटयशास्त्र में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी इन शब्दों से निर्दिष्ट हैं, (कृत्रिमैरपि) बनावटी होने पर भी (तथानभिमन्य-मानैः—) वैसे अर्थात् मिथ्या भासित नहीं होते।

इन्हीं विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के (संयोगात्) संयोग से रस (गम्यगमकभावरूपात्) ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव रूप से (अनुमीयमानोऽपि) अनुमित होता है और (वस्तुसौन्दर्यबलात्) सम्पूर्ण वातावरण रूप वस्तु के सौन्दर्य के बल से (रसनीयत्वेन—) समास्वादनयोग्य होता है।

रस (अन्यानुमीयमान:) सामाजिकों से अनुमीयमान होता हुआ भी (विलक्षण:) अनुमान से भिन्न होकर (स्थायित्वेन संभाव्यमान:) स्थायी रूप से चित्त में अभिनिविष्ट · बिंधा हुआ—-होता है।

ये जो (रत्यादिर्भावः) रत्यादि स्थायीभाव हैं वे (तत्रासन्नपि) नट में न होने पर भी (सामाजिकानां) दर्शकों की (वासनया) वासना द्वारा (चर्व्यमाणः) चर्वित होते हैं, आस्वादित होते हैं——यही भाव रस हैं।"

इनकी रस-परिपाक-प्रक्रिया निम्न प्रकार समझी जा सकती है :—

(*i*) रामादि नायक-नायिका में स्थायीभाव होता है।

(*ii*) कारण, कार्य और सहयोगी कारणों के संयोग से वह स्थायीभाव (या मूलभाव) उन्हीं के द्वारा अनुभव किया जाता है।

(*iii*) इस सम्पूर्ण अवस्था का नट-नटी अभिनय करते हैं; अर्थात उनके कार्यों और भावों दोनों का अनुकरण करते हैं।

(*iv*) चित्र-तुरग-न्याय से दर्शक यह समझ लेता है कि मूलभाव के अनुभव किये जाने की अवस्था मेरे सामने मूल रूप से ही घटित हो रही है (जैसे कोहरे से आवृत्त प्रदेश को कोई व्यक्ति धूमावृत समझ लेता है)।

(*v*) इस अवस्था में प्रेक्षक नायक-नायिका के मूलभाव (स्थायीभाव-रत्यादि या रस) का भी अनुमान कर लेता है (जैसे दर्शक द्वारा कुहराछन्न प्रदेश को धूमावृत समझ लिये जाने पर वह वहाँ उसके सहचारी अग्नि का भी अनुमान कर लेता है)। यह अनुमित स्थायीभाव ही रस है जो अपने सौन्दर्य के बल से स्वाद का आनन्द

देता है और चमत्कृत करता है। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यह अनुमित स्थायीभाव वास्तविक मूलभाव (नायकादि के रतिभाव) से भिन्न न होकर उसका अनुकृत रूप है। इस पर से इनकी निम्न मान्यताओं की सिद्धि सम्भव है :—

(क) प्राचीनों की तरह इन्होंने भी ऐतिहासिक नायक-नायिकाओं में और कवि-निबद्ध नायक-नायिकाओं मे कोई अन्तर नहीं माना।

(ख) रस की स्थिति भी, लोल्लट की तरह, ये ऐतिहासिक नायक-नायिकाओं में ही मानते हैं। नट-नटी द्वारा प्रस्तुत सम्पूर्ण वस्तु को प्रेक्षक असली ही मान लेता है। फिर उसमें मूलभाव का अनुमान कर लेता है। अर्थात् रस का मूल भोक्ता ऐतिहासिक पुरुष है, प्रक्षक का रस अनुमित है और नट-नटी माध्यम रूप से हैं। फलतः निष्पत्ति का अर्थ हुआ अनुमिति।

(ग) और भरत स्थायीभाव और रस में कोई अन्तर नहीं मानते—ऐसा इनका विचार है।

शंकुक की प्रथम दो मान्यतायें वही हैं जो लोल्लट की थीं। अतः तद्विषयक पूर्वकथित दोष यहाँ भी ज्यों के त्यों हैं। अनुमिति का सिद्धान्त भी विज्ञानसम्मत नहीं। यदि प्रेक्षक अनुमान द्वारा रस का ग्रहण कर लेता है तो उसे रस-विषयक ज्ञान ही हो सकता है, रसानुभूति नहीं हो सकेगी ; क्योंकि अनुमान स्पष्टतया बुद्धि की क्रिया है।

इसके अतिरिक्त शकुक की यह मान्यता कि अनुकार्यों की अनुकृत दशा से स्थायीभाव का अनुमान प्रेक्षक कर लेता है, भी निराधार है; क्योंकि अनुमित पदार्थ से कार्यसिद्धि नहीं होती। कोहरे को धूम समझकर उसके सहचारी अग्नि का यदि अनुमान कर भी लें तो क्या ठण्ड दूर हो सकेगी ? अतः अनुमित स्थायीभाव दर्शकों को आनन्दानुभूति नहीं करा सकता।

सांख्यवादी भट्टनायक का भुक्तिवाद

भरतसूत्र के तृतीय व्याख्याता भट्टनायक हैं। रस-सिद्धान्त के प्रतिपादकों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। ये मौलिक प्रतिभा के विद्वान् थे। रस की स्थिति को इन्होंनें विषयगत न मानकर विषयीगत माना। इनका यह क़दम लोल्लट और शंकुक की अपेक्षा अत्यन्त क्रान्तिकारी था, क्योंकि वे रसस्थिति को मूल नायक-नायिकाओं में ही मानते चले आ रहे थे और वहाँ से प्रेक्षक के हृदय में सिद्ध करने के लिए विविध कल्पनाजालों में उलझे पड़े थे। भट्टनायक ने सर्वप्रथम प्रेक्षक में रसस्थिति मानकर उस पचड़े का सफाया कर दिया। इसके अतिरिक्त 'साधारणीकरण' के असाधारण सिद्धान्त की उद्भावना कर रस-सिद्धान्त की वैज्ञानिक आधारशिला स्थापित कर दी।

लोल्लट (मीमांसक) और शंकुक (नैयायिक) की इस मान्यता पर कि नायक-नायिका के स्थायीभाव के साक्षात्कार से प्रेक्षक के हृदय में रस उत्पन्न या अनुमित होता है, भट्टनायक ने आपत्ति उठाई। उन्होंने कहा कि नायक के जिस प्रकार के भाव का साक्षात्कार प्रेक्षक करेगा, वैसा ही भाव उसके हृदय में भी उठ सकता है। दुःखद प्रसंग के प्राप्त होने पर नायक की तरह प्रेक्षक को भी दुःख ही होना चाहिए। अर्थात् शोक से शोक की ही उत्पत्ति होगी। पर ऐसा होता नहीं। प्रेक्षक दुःखद प्रसंग में भी आनन्दानुभूति करता है। अतः उक्त मत स्वीकार्य नहीं हो सकता।

इसी प्रकार ध्वनिकार के मत पर भी उन्होंने शंका उठाई। ध्वनिवादियों ने कहा कि प्रेक्षक के हृदय में संस्कार-रूप से स्थित स्थायीभाव विभावादि के संयोग से अभिव्यक्त हो जाते हैं। भट्टनायक नें कहा कि इस अवस्था में आलम्बन (सीतादि) के प्रति जो नायक (रामादि) के भाव हैं वही प्रेक्षक में भी कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? प्रेक्षक तो सीता को जगन्माता मानता है। राम-सीता का अभिनय

देखकर सीता के प्रति जगन्माता की ही भावना हो सकती है, स्त्री की नहीं। और फिर रति-शोकादि साधारण भावों की अभिव्यक्ति मान भी ली जाय, पर हनुमान एवं भीमादि के समुद्रलंघन जैसे अद्भुत पराक्रम-पूर्ण कार्यों को देखकर अल्पायतन प्रेक्षक में उन-जैसे वीर भावों की अभिव्यक्ति कैसे सम्भव हो सकती है ?

अतएव इन्होंने उक्त मतों का निरसन करते हुए अपने मत को इस प्रकार रखा :—

"(न ताटस्थ्येन) न तो तटस्थ—[उदासीन नट व रामादि नायक में]—और (नात्मगतत्वेन) न आत्मगत—[प्रेक्षकगत रूप में]—रूप से (रसः प्रतीयते) रस की प्रतीत होती है, (नोत्पद्यते) न उनकी उत्पत्ति होती है, (नाभिव्यज्यते) और न उसकी अभिव्यक्ति [व्यञ्जकता द्वारा सिद्धि] होती है। (अपितु) किन्तु (काव्ये नाट्ये च) काव्यों और नाटकों में (अभिधातो द्वितीयेन) अभिधालक्षणा से भिन्न किसी अन्य (विभावादिसाधारणीकरणात्मना) विभावादि का साधारणीकरण करने वाले (भावकत्वव्यापारेण) भावकत्व नामक व्यापार के द्वारा (भाव्यमानः स्थायी) असाधारण से साधारण किया गया जो स्थायी-भाव है वह, (सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमय) सत्त्वगुण के प्रवाह के वेग से आनन्दस्वरूप तथा (संविद्विश्रान्तिसत्त्वेन) अन्य ज्ञानों को तिरोहित कर देने वाले—[अर्थात् विक्षेपरहित मनःस्थिति वाले]—(भोगेन) भोजकत्व नामक तृतीय व्यापार द्वारा (भुज्यते) उपभुक्त होता है—आस्वादित होता है। यह आस्वादन ही रसनिष्पत्ति है।"

इनकी रस-परिपाक-प्रक्रिया का स्वरूप निम्न प्रकार से हो सकता है :—

(*i*) रामादि (नायक-नायिका) में स्थायीभाव रत्यादि होता है।

(*ii*) कारण-कार्य और सहकारियों के संयोग से वह स्थायीभाव रामादि में उद्बुद्ध होकर उन्हें परितृप्ति प्रदान करता है।

(*iii*) यह सम्पूर्ण अवस्था नट के अभिनय द्वारा या—श्रव्य काव्य हुआ तो—काव्यानुशीलन द्वारा दर्शक के सामने आती है। तब उसे काव्यगत तीन शक्तियों—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व—में से प्रथम अभिधा के बल से काव्यार्थ की अभिज्ञता होती है।

(*iv*) इसके अनन्तर दर्शन उस अर्थज्ञान का काव्यगत द्वितीय शक्ति—भावकत्व-के द्वारा भावन करता है। भावन का तात्पर्य है निर्विशेष रूप से चिन्तन, जिससे राम-सीता और उनकी पारस्परिक रति निर्विशेष रूप में रह जाती है। अर्थात् उनकी रति पुरुषमात्र की, स्त्रीमात्र के प्रति सहज स्वाभाविक रति के रूप में हो जाती है। इस प्रक्रिया को साधारणीकरण कहते हैं।

(*v*) नायक-नायिका की रति एवं विभावादि के साधारणीकरण हो जानें पर दर्शक में रजोगुण व तमोगुण का स्वतः लाप होकर सत्त्वगुण का आविर्भाव होता है। इस अवस्था में काव्य की तीसरी शक्ति भोजकत्व कार्य करती है। उसके द्वारा साधारणीकृत भाव व विभावादि के प्रेक्षक अपने स्थायीभावों का उपभोग करता है। रत्यादि का उपभोग या आस्वादन ही रसनिष्पत्ति है।

निष्कर्ष रूप से इनकी निम्न मान्यताएँ सामने रखी जा सकती हैं:—

[क] रस की स्थिति ये सीधी सहृदय में मानते हैं।

[ख] काव्य में तीन शक्तियाँ स्वाभाविक हैं— (१) अभिधा (जिसके द्वारा अर्थग्रहण होता है), (२) भावकत्व जिसके द्वारा काव्यार्थ का निर्विशेष रूप से चिन्तन होता है), (३) भोजकत्व (जिसके द्वारा आनन्द की अनुभूति होती है)।

[ग] इन्होंने भावकत्व की शक्ति का प्रतिपादन करते हुए "साधारणीकरण" का उद्भावन किया।

[घ] काव्यानन्द की उद्रेकावस्था में तमोगुण और रजोगुण सर्वथा विलुप्त हो जाते हैं। केवल सत्त्व गुण का प्राध्यान्य हो जाता है। इसी अवस्था में रस का उपभोग होता है। अतः निष्पत्ति का अर्थ है भुक्ति।

साधारणीकरण

भट्टनायक की साधारणीकरण-प्रक्रिया

भट्टनायक साधारणीकरण के सिद्धान्त के आविष्कारक हैं। उन्होंने अपने मत के प्रतिपादन के प्रसंग में काव्यगत द्वितीय शक्ति 'भावकत्व' की इस प्रकार व्याख्या की है। 'अभिधा' द्वारा काव्य के शब्दार्थ (भाव) के ग्रहण होने पर भावकत्व द्वारा इस अर्थ का (भाव का) भावन होता है; अर्थात् भाव की वैयक्तिकता विनष्ट हो जाती है। भाव विशिष्ट न रहकर निर्विशेष (साधारण) रह जाता है—यही भावन की प्रक्रिया साधारणीकरण है। उदाहरणार्थ काव्यद्वारा उपन्यस्त राम का सीता के प्रति रतिभाव भावन की प्रक्रिया द्वारा पुरुष का स्त्री के प्रति सहज साधारण रतिभाव ही रह जाता है; यदि ऐसा न हो तो सीतादि में पूज्यबुद्धि के कारण सामाजिक को रसानुभूति न होवे।

साधारणीकरण के इस सिद्धान्त को अभिनवगुप्त ने भी इसी रूप में स्वीकार कर लिया। परन्तु 'भावकत्व' शक्ति को अनावश्यक ठहराते हुए व्यञ्जनावृत्ति से ही इसे सम्भव माना।

भट्टनायक की व्याख्या का तात्पर्य यह है। काव्य द्वारा उपन्यस्त आश्रय की रति (स्थायीभावादि) सभी का साधारणीकरण होता है। साधारणीकृत रूप वाले विभावादि के संयोग से ही सामाजिक की रति भुक्त (भट्टनायक) या अभिव्यक्त (अभिनवगुप्त) होती है। केवल

आलम्बन का साधारणीकरण, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने माना है, नहीं होता। भट्टनायक का मत 'काव्यप्रकाश' की टीका 'काव्यप्रदीप' में इस प्रकार दिया गया है :—

"भावकत्वं साधारणीकरम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव 'यत्सीतादि विशेषाणां कामि नीत्वादिसामान्येनोपस्थितः। स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्ध-विशेषानवच्छिन्नत्वेन।"

आचार्य शुक्ल का मन्तव्य

आचार्य शुक्ल जी ने "साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद" नामक निबन्ध में साधारणीकरण के विषय में लिखा है—"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। (विषय का) इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।" शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण के इस रूप की मान्यता का अनुवर्ती परिणाम यह होता है कि तथाविध आलम्बन के सामने आने पर रसोद्बोधन से पूर्व सामाजिक आश्रय से तादात्म्य कर ले। इसी दृष्टि से उन्होंने आगे लिखा है—"साधारणीकरण के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों (विश्वनाथ आदि) ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भावव्यञ्जना करने वाले पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है।"

साधारणीकरण के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की मान्यता की व्याख्या कुछ इस प्रकार की जा सकती है। पूजनीय व्यक्तियों यथा सीतादि के भी आलम्बन रूप में चित्रित किये जाने पर रसानुभूति होती है; इसके प्रतिपादन के लिए भट्टनायक ने साधारणीकरण के सिद्धान्त की प्रक्रिया का अनुसन्धान किया। उन्होंने साधारणीकरण का कारण

काव्यगत भावकत्व वृत्ति को माना, जो काव्य में स्वभावतः होती है। काव्य (कवेरिदं काव्यम्) कवि की कृति होता है। अतः यह भी स्पष्ट है कि काव्य में यह भावकत्व (साधारणीकरण करने की योग्यता) कवि द्वारा उत्पन्न की जाती है। जहाँ यह योग्यता नहीं वहाँ काव्यत्व भी न होगा। अतः साधारणीकरण कविकर्मसापेक्ष है। ध्यान रहे कि भावकत्व को स्वतन्त्र शक्ति न मानने की अभिनवगुप्त की अवस्था में भी उक्त कथन में अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि काव्यगत ही व्यञ्जना शक्ति से भावन वहाँ भी माना गया है। इस सापेक्ष होने की बात को ही आचार्य शुक्ल ने इस रूप में रखा कि किसी भाव के विषय (आलम्बन) को इस रूप में (सबके उसी भाव का आलम्बन हो सकने योग्य रूप में) लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। कवि ही 'आलम्बन' को इस रूप में लाता है। अतः साधारणीकरण आलम्बन का होता है। इसमें शुक्ल जी इतना और जोड़ देते हैं कि "……… साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है" (चिन्तामणि पृ० ३१३) —जिससे एक ही काव्य एक ही समय में अनेक जनों को रस दान करने में समर्थ होता है।

विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में विभागदिकों के साधारणीकरण के साथ-साथ आश्रय के साथ तादात्म्य माना है—

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।
तत्प्रभावेण यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः ॥
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।

आचार्य श्यामसुन्दरदास जी का मत और ही है। उन्होंने शुक्ल जी के मत को अमान्य ठहराते हुए लिखा है—"साधारणीकरण से यहाँ यह अर्थ लिया है कि विभाव और अनुभाव को साधारण रूप करके लाया जाय। पर साधारणीकरण तो कवि या भावक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध

रखता है। चित्त के साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। … हमारा हृदय साधारणीकरण करता है।"

आचार्य श्यामसुन्दर का मन्तव्य

आचार्य श्यामसुन्दरदास जी पाठक की चित्तवृत्तियों के एकतान एकलय हो जाने को ही साधारणीकरण मानते हैं। उनके मन्तव्यानुसार रसानुभूति ब्रह्मानन्दसहोदर है। इसमें उसी प्रकार आनन्दानुभूति होती है जिस प्रकार योगी को ब्रह्मानन्द की। योगी का आनन्द स्थायी और यह क्षणिक है। मधुमती भूमिका (चित्त की वह विशेषावस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीन की प्रतीति वितर्क है। चित्त की यह समापत्ति सात्त्विक वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है।) में पहुँचकर 'पर-प्रत्यक्ष' होता है। योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती भूमिका तक होती है उस भूमिका तक प्रतिभा-ज्ञान-सम्पन्न सत्कवि की पहुँच स्वभावतः हुआ करती है। जब तक हमें सांसारिक पदार्थों का 'अपर-प्रत्यक्ष' होता रहता है तब तक उनके दो रूप—सुखात्मक या दुःखात्मक—हमारे सामने रहते हैं। परन्तु जब हमें वस्तु का पर-प्रत्यक्ष (तत्त्व-ज्ञान) होता है तब वस्तु रूप मात्र का सुखात्मक रूप ही आलम्बन बनकर उपस्थित होता है। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं। यही साधारणीकरण है।

आपके विवेचन का सार इस प्रकार है :—

(i) रसानुभूति मधुमती भूमिका में होती है।

(ii) मधुमति भूमिका में ही पर-प्रत्यक्ष होता है। उस समय ही अनुभूति अखण्ड होती है।

(iii) चित्तवृत्ति की इसी अखण्ड और एकतानता का नाम साधारणीकरण है।

डा० नगेन्द्र का मत

आचार्य श्यामसुन्दरदास ने पाठक के चित्त का साधारणीकरण माना, और आलम्बन के साधारणीकृत होने का निषेध किया। डा० नगेन्द्र की युक्तियों के अनुसार पाठक तो 'साधारणीकृत रूप का भोक्ता' है, अतः उसका साधारणीकरण नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त रसानुभूति की दशा में सामाजिक, आश्रय, आलम्बन और कवि (व्यवहित—इन्‌डाइरेक्ट रूप से) इन चार के व्यक्तित्व और उपस्थित रहते हैं। हमें इन्हीं में से देखना चाहिए कि साधारणीकरण किसका होता है? आश्रय का तो मान्य इसलिए नहीं कि अप्रिय नायक (रावण या जघन्य वृत्ति वाले पूँजीपति) से तादात्म्य करना रुचिकर नहीं होगा। अब रहा आलम्बन! काव्य में जो आलम्बन हमारे सामने आता है वह कवि की मानसी सृष्टि होता है—व्यक्तिविशेष नहीं, अपितु उसका प्रतिरूपमात्र समझना चाहिये। उनके शब्दों में—" जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण··· ।" ऐसे आलम्बन के सम्बन्ध में 'पूज्य-बुद्धि' होने की बाधा भी नहीं। "हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं और काव्य की यह आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं, जिससे हमको किसी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता हो; वह कवि की मानसी सृष्टि है··· ।" "अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण आचार्य कवि की अपनी अनुभूति का होता है··· ।" **(देखिये रीतिकाव्य की भूमिका पृ० ५०)**

गुलाबराय का मत

साधारणीकरण सम्बन्धी उपर्युक्त सभी मतों का सम्यक् विश्लेषण करते हुए सुप्रसिद्ध आलोचक विद्वान् गुलाबराय जी इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि रसानुभूति की दशा में पाठक अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बन्धनों को तोड़ने के कारण, कवि अपने निजी व्यक्तित्व से ऊँचा उठकर लोक-प्रतिनिधि बनने के कारण, भाव 'अयं निजः परो

चेति' की लघुचेतसों की गणना से मुक्ति पा जाने के कारण और आलम्बन (अपने व्यक्तित्व में प्रतिष्ठित रहकर ही) व्यापक सर्वजन-सुलभ-सम्बन्धों के रूप में आ जाने के कारण साधारणीकृत हो जाता है।

साधारणीकरण आश्रय, आलम्बन, स्थायीभाव, कवि और सामाजिक में से किसका होता है, इस प्रश्न का उत्तर उपर्युक्त विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से दिया। जहाँ तक भट्टनायक के दृष्टिकोण का प्रश्न है, वे तो आलम्बन को ही प्रश्रय देते मालूम होते हैं, क्योंकि उनके सामने प्रश्न ही यह था कि सीतादि पूज्य व्यक्तियों के आलम्बन रूप में उपन्यस्त होने पर रसानुभूति कैसे होती है ? इस प्रश्न का स्वरूप भट्टनायक की दृष्टि की ओर स्पष्ट इशारा करता है। इसी का लक्ष्य करते हुए आचार्य शुक्ल ने साधारणीकरण सम्भव कैसे होता है इस रहस्य का व्याख्यान अपनी अन्तर्दर्शिनी बुद्धि से किया। आचार्य श्यामसुन्दरदास जी के मत को देखने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी समस्या बड़ी सीधी है, और अपनी दृष्टि पर ही उपयुक्त चश्मा चढ़ा लेने से सम्पूर्ण दृश्य अनुकूल दिखाई देने लगता है। परन्तु इसमें जो भी समझदारी है वह सामाजिक की ही प्रतीत होती है; कवि-कौशल या काव्य के चमत्कार को कुछ भी श्रेय नहीं मिलता। ऐसी अवस्था में क्या काव्य और नाटक से बाहर भी साधारणीकरण सम्भव है ?—यह प्रश्न उठता है। हमारी समझ में इसे कोई भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होगा कि सामाजिक अपनी किसी तथाकथित विशिष्ट साधना के बल पर मधुमती भूमिका में पहुँच जाता है। यदि यह कहा जाय कि सामाजिक उस अवस्था में कवि-कौशल अथवा आलम्बन के चमत्कार से पहुँचता है तो उसका तात्पर्य यही हुआ न कि साधारणीकरण आलम्बन का होता है जिससे प्रेक्षक की वैसी दृष्टि

उपरिलिखित मतों का समाहार

मिल जाती है। वास्तव में मधुमती भूमिका में पहुँचने के लिए (एकतानलय होने के लिये) आलम्बन का रागमय तीव्र आकर्षण होना चाहिए। आलम्बन के इसी आकर्षण पर तो आचार्य शुक्ल ज़ोर देते हैं।

डा० नगेन्द्र ने जो यह कहा कि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है, वह इस प्रश्न का उत्तर है कि वस्तुतः आलम्बन आदि का मूल स्वरूप क्या है ? वैसे तो साधारणीकरण वे भी विभावादि सभी का ही मानते हैं। 'साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है' इस कथन में यह बात स्वीकृत है ही कि साधारणीकरण विभावादि सभी का होता है; चाहे वे विभावादि वास्तव में कवि की अनुभूति ही क्यों न माने जावें। अतः तात्त्विक दृष्टि से डा० नगेन्द्र और आचार्य गुलाबराय जी के मत में कोई भेद नहीं है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

इसके पश्चात् उक्त सूत्र के सर्वाधिक प्रामाणिक व्याख्याता अभिनवगुप्त हुए हैं। इन्होंने भट्टनायक की कई मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भी भावकत्व और भोजकत्व नामक काव्यगत दो शक्तियों को निराधार बताया। इनके कथनानुसार उक्त दोनों शक्तियों का काम व्यंजना या ध्वनि से ही चल सकता है। जो 'भाव' (काव्यार्थ) है वह स्वतः ही भावित होने की योग्यता रखता है। क्योंकि जो भावना का विषय बने वही तो भाव है। ये भावित भाव व्यञ्जना शक्ति द्वारा आश्रय के हृदय में स्थित रति को रस रूप में अभिव्यक्त कर देते हैं। इसी प्रकार 'रस' में भोग का भाव भी स्वाभाविक रूप से विद्यमान है। जो भोग को प्राप्त हो सके वही तो रस है। अतः सूत्रगत संयोग का अर्थ व्यञ्जित होना और निष्पत्ति का आनन्द रूप से प्रकाशित होना है।

इन्होंने अपने मत का प्रतिपादन निम्न प्रकार किया :—

"सर्वसाधारण, (लोके) लौकिक व्यवहारों में स्वतः प्राप्त रहने वाले (प्रमदाभिः) प्रमदा, उद्यान और कटाक्षनिर्वेदादि के द्वारा (स्थाय्यनुमानेऽभ्यास-) स्थायीभावों के अनुमान करने के विषय के अभ्यास में (पाटवताम्) कुशलता को प्राप्त हो जाते हैं ।

(काव्येनाट्ये च) काव्य और नाटकों में (तैरेव) उन्हीं (कारणान्वादीनाम्) कारण-कार्य और सहयोगी कारणों का (परिहारेण) परित्याग कर दिया जाता है ; और (विभावनादिव्यापारवत्त्वात्) विभावनादि व्यापार वाला होने के कारण (अलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्यैः—) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी इन अलौकिक नामों से पुकारा जाता है।

ये विभावादि "(ममैवैते) मेरे ही हैं (शत्रोरेवैते) शत्रु के ही हैं (न तटस्थस्यैवैते) उदासीन के ही हैं अथवा (न ममैवैते) मेरे ही नहीं हैं (न शत्रोरेवैते) शत्रु के ही नहीं हैं"—(इति) इस प्रकार के (सम्बन्धविशेषम्) सम्बन्धविशेष के (स्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात्) स्वीकार या परित्याग के नियमों का ज्ञान न रहने के कारण (साधारण्येन प्रतीतैः—) साधारणीकृत रूप में ही प्रतीत या ज्ञानगोचर होते हैं ।

(सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः) सामाजिकों के चित में वासनारूप से स्थित (स्थायीरत्यादिकः) जो स्थायीरत्यादिक भाव है वह (नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि) निश्चित ज्ञातृ-गत—प्रेक्षकविशेष में—रूप में होता हुआ भी (साधारणोपायबलात्) साधारणीकृत विभावादि कारणों के बल से (तत्काल) नाटकदर्शन के समय में ही (विगलितपरिमितप्रमातृभाववश···) निश्चित ज्ञाता के भाव से भी विलग [अर्थात् प्रेक्षक आत्मसत्ता के ज्ञान से भी रहित हो जाता है] होकर (अभिव्यक्तः) अभिव्यञ्जित होता है ।

(उन्मिषितः) इस प्रकार से प्रकाशित (वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यः) इतर ज्ञान के सम्पर्क से रहित (अपरिमितभावेन) अनन्तभाव से

(सकलसहृदयसंवादभाजा) सभी सहृदयों के राग का पात्र होता हुआ (साधारण्येन स्वाकार इवाऽभिन्नोऽपि) साधारणीकृत होकर भी अपने रूप से अभिन्न ही जो रत्यादि स्थायीभाव हैं वह (प्रमातृगोचरीकृतः) सामाजिक द्वारा अनुभव का विषय होता है।

(चर्व्यमाणतैकप्राणः) चर्वण—आस्वादन—मात्र ही जीवन के स्वरूप वाला, (विभावादिजीवितावधिः) विभावादि की सत्तापर्यन्त जीवन की अवधि वाला (पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः) विलक्षण स्वादोत्पादक पानकरस-न्याय से आस्वादित होने वाला, (पुरः इव परिस्फुरन्) सामने ही निर्झरित होता हुआ, (हृदयमिव) प्रविशन् हृदय में समाता हुआ सा (सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्) सर्वाङ्ग को आलिङ्गन करता हुआ सा (अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत्) अन्य सभी को तिरोहित करता हुआ सा (ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्) और ब्रह्मानन्द का आस्वादन कराता हुआ सा (अलौकिकचमत्कारकारी) लोकोत्तर चमत्कार का कर्ता (शृङ्गारादिको रसः) शृङ्गारादिक रस है।"

अभिनवगुप्त के अनुसार रस का परिपाक निम्न प्रकार होता है:—

"सामाजिक लौकिक व्यवहारों में रति के कार्य-कारणों का अनुभव करता रहता है, जिससे रति बार-बार अनुमित होती है। यह अनुमान की गई रति सहृदय सामाजिक के हृदय में संस्कार रूप से सन्निविष्ट हो जाती है।"—इस प्रकार के सामाजिक के सामने जब नट नकली कारण-कार्यादि (विभावादि) का विस्तार करता है तो वह काव्यार्थ के ज्ञान के पश्चात् उसका भावन व्यञ्जना शक्ति द्वारा करता है। फलतः विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। और रजोगुण व तमोगुण का तिरोभाव होकर सत्त्वगुण के उद्रेक की अवस्था में पूर्व कथित प्रकार से संस्कार रूप से विद्यमान सामाजिक के रत्यादि स्थायीभाव रस रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यह रस की अभिव्यक्ति ही निष्पत्ति है।

अब हम इनकी मान्यताओं का समाहार इस प्रकार कह सकते हैं:—

[क] रस की स्थिति सीधी सहृदय में ही, भट्टनायक की तरह, मानते हैं।

[ख] भट्टनायक का साधारणीकरण का सिद्धान्त भी स्वीकार करते हैं।

[ग] और भट्टनायक के—"काव्यानन्द की उद्रेकावस्था में रजोगुण व तमोगुण का तिरोभाव और सत्त्वगुण का आविर्भाव हो जाता है।" इस सिद्धान्त का भी समर्थन करते हैं।

[घ] मानव-आत्मा शाश्वत है। पूर्वजन्म व इस जन्म में लौकिक व्यवहारों के संसर्ग से आत्मा के साथ कुछ वासनाएँ संस्कार रूप से संलग्न रहती हैं। ये मूल वासनाएँ ही स्थायीभाव हैं। काव्यानुशीलन या नाटक देखने से ये वासनाएँ उद्बुद्ध हो रस रूप में परिणत हो जाती हैं। इस प्रकार रस अभिव्यक्त होता है। निष्पत्ति का अर्थ हुआ अभिव्यक्ति।

इस प्रकार से रस-समीक्षा के प्रसङ्ग में उपन्यस्त उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद और भुक्तिवाद के तीनों सिद्धान्त अनेक रूपों में सदोष पाये गये। अतः उन्हें अस्वीकार्य ठहराया गया। अभिनवगुप्त की व्याख्या सर्वाधिक समीचीन मानकर रसस्थिति सामाजिक में स्वीकार की गई। और उनके अभिव्यक्तिवाद को भारतीय काव्यशास्त्र में सर्व-सम्मत रूप में ग्रहण किया गया। बाद में आने वाले मम्मट, विश्वनाथ आदि विद्वानों ने इसी मत को ग्रहण कर पुष्ट किया।

रस-परिपाक की प्रक्रिया को आधुनिक विद्वानों ने भी नवीन मनोविज्ञान और सौन्दर्य-शात्र के प्रकाश में देखने का प्रयत्न किया है।

विवेचन

उनकी मूलधारणा यह है कि रस का वैज्ञानिक विवेचन करने के लिये स्वतन्त्र चिन्तन आवश्यक है; भरत के सूत्र की व्याख्या का पल्ला पकड़े रहने से सचाई की खोज का मार्ग सीमित हो जाता है। वे रस-

परिपाक-प्रक्रिया विवेचन के लिए "शाकुन्तलम्" की—मूल ऐतिहासिक घटना से लेकर 'राष्ट्रीय रङ्गशाला' देहली में अभिनीत होकर प्रेक्षक को रस दान करने तक की—सम्पूर्ण क्रियाविधि का विश्लेषण करते हैं:—

(*i*) सर्वप्रथम अति प्राचीन समय में कण्व ऋषि के रम्य आश्रम में दुष्यन्त ने शकुन्तला को देखकर अपने हृदय में रति का अनुभव अवश्य ही किया होगा।

(*ii*) इसके पश्चात् महाकवि कालिदास ने अपने अध्ययन-कक्ष में बैठकर महाभारत में वर्णित उक्त उपाख्यान को पढ़कर कल्पना के द्वारा उक्त रतिभाव का अनुभव किया होगा। मानव-सुलभ-सहानुभूति के कारण यह सर्वथा सम्भव है।

(*iii*) इसी प्रकार नाटक के शौकीन आधुनिक प्रेक्षक श्री अनिल और रम्भादेवी भी इतिहास पढ़कर कल्पना के द्वारा उस रति का अनुभव कर सकते हैं।

(*iv*) फिर महाकवि ने किसी स्मरणीय क्षण में उस स्मृतिशेष अनुभूति के संस्कार का भावन करते हुए अपने हृदय में पुन: जाग्रत किया होगा और 'शाकुन्तलम्' के रूप मे शब्दबद्ध कर सदा के लिए अमर बना दिया।

(*v*) जब 'भारतीय गणतन्त्र समारोह' के अवसर पर राष्ट्रीय रङ्गशाला में 'शाकुन्तलम्' का अभिनय किया गया तो अभिनेताओं ने भी उक्त रति का अनुभव किया होगा, क्योंकि श्रेष्ठ अभिनय के लिए उसमें तल्लीन होकर अनुभूति ग्रहण करना आवश्यक है।

(*vi*) नाटक के शौकीन हमारे परिचित अनिल और रम्भादेवी दोनों ही नाटक देखने अवश्य गये होंगे और उन्होंने भी उसी रति का अनुभव किया होगा।

इस प्रकार ये छः अनुभूतियाँ हुई। इनमें 'रस' अनुभूति किसे कहें, यही विचारणीय है। देखने से पता चलता है कि ये अनुभूतियाँ तीन प्रकार की हैं:—

(*i*) प्रत्यक्ष अनुभूति—दुष्यन्त और शकुन्तला की अनुभूति ऐसी ही है।

(*ii*) कल्पना में प्रत्यक्ष अनुभूति—जैसे महाभारत (इतिहास) में पढ़कर प्राप्त की गई कवि, अनिल और रम्भादेवी की अनुभूतियाँ।

(*iii*) प्रत्यक्ष या कल्पनात्मक अनुभूति के संस्कारों के भावन द्वारा उद्बुद्ध अनुभूति—जैसे 'शाकुन्तलम्' के प्रणयन काल की कवि की अनुभूति तथा अभिनेताओं और प्रेक्षक रूप से उपस्थित अनिल व रम्भादेवी की अनुभूति।

कल्पनामूलक अनुभूतियाँ भी प्रत्यक्ष ही कही जा सकती हैं। अतः प्रथम तीन अनुभूतियाँ प्रत्यक्ष होने से भावमात्र हैं। वे प्रसङ्ग के अनुसार कटु भी हो सकती हैं। शेष तीन अनुभूतियों में कवि की समृद्ध भाव-शक्ति का पुट है। उसका अपना हृदय तो भावुक होता ही है परन्तु उसने भाषा के प्रतीकों को भी वह शक्ति प्रदान कर दी है कि वे दूसरों में भी वैसे ही भाव जागृत करा सकें। अतः इस भाव-प्रवणता के कारण वे तीनों अनुभूतियाँ भावित हैं और प्रत्येक अवस्था में आनन्दमय होने का ही सामर्थ्य रखती हैं। इस कारण रस संज्ञा भी इन्हीं की हो सकती है। अस्तु!

इस विश्लेषण से हम इस परिणाम पर पहुँचे कि साक्षात् प्रत्यक्ष अथवा कल्पना में प्राप्त प्रत्यक्ष अनुभूति के संस्कार समृद्ध भाव-शक्ति के द्वारा भावित होते हैं, जिससे वे हर अवस्था में आनन्दमय ही होते हैं और 'रस' कहाते हैं।

इस कसौटी से मालूम पड़ा कि—

(*i*) रचना के समय कवि रस ग्रहण करता है ।

(*ii*) अभिनय के समय नट-नटी भी रस ग्रहण करते हैं ।

(*iii*) और सहृदय के वासनारूप से स्थित स्थायीभाव जागृत होकर रसदशा को पहुँचते ही हैं ।

अतः रसस्थिति न केवल प्रेक्षक में अपितु कवि और नट-नटी में भी माननीय है । परन्तु रस—

(*i*) वस्तु में नहीं रहता ।

(*ii*) नायक-नायिका की सत्ता रस दृष्टि से निर्विशेष होती है । अतः उनमें रस की स्थिति नहीं होती ।

आचार्यपाद	दर्शन	रस का बीज	रसनिष्पत्ति की प्रकिया	रस की स्थिति	न्याय	सूत्रार्थ	
						संयोग का अर्थ	निष्पत्ति का अर्थ
भट्टलोल्लट	मीमांसक उत्पत्ति-वाद	अनुकार्य का स्थायी-भाव	नट के अनुकरण पर (नटादि अनुकर्ताओं में) प्रेक्षक अनुकार्यों का आरोप कर लेता है। इससे उनके रस की प्रतीति होती है। रस-प्रतीति से प्रेक्षक के हृदय में भी आनन्द (रस) उत्पन्न हो जाता है।	मूल रूप से अनु-कार्यों में। गौण रूप से सामा-जिक में।	कारण-कार्य भाव	विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से (आरोपित होने से—नाटकगत विभावादि पर अनुकार्य और उसके कारण-कार्यों का आरोप होने से) रसप्रतीति द्वारा रस *उत्पन्न* होता है।	
श्री शंकुक	नैयायिक अनुमिति-वाद	अनुकार्य का स्थायी-भाव	नट के अनुकरण पर प्रेक्षक अनुकार्यों का तादात्म्य कर लेता है। फिर उनके भाव (आनन्द या रस) का भी अनुमान कर लेता है। अनु-मित भाव ही रस है।	मूल रूप से अनु-कार्यों में। गौण रूप से सामा-जिकों में।	गम्य-गमक भाव	विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से (*अनुकार्य के कारण-कार्य और सहयोगी कारण रूप से समझ लिए जाने पर*) रस का *अनुमान होता* है।	

भट्टनायक	सांख्य-वादी भुक्तिवाद	प्रेक्षक का स्थायी-भाव	नट के अनुकरण पर से काव्यार्थ का ज्ञान (अभिधा द्वारा) होता है। इस विज्ञात रति एवं विभावादि का साधारणीकरण भावकत्व द्वारा होता है। इस प्रकार साधारणीकृत विभावादि के साथ स्थायीभाव का उपभोग भुक्ति द्वारा होता है। यह भुक्ति ही रस है।	प्रेक्षक में ही	भोज्य-भोजक भाव	विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के संयोग से *(विज्ञात होकर भावित होने से)* प्रेक्षक के संस्कारों की *भुक्ति* होती है।
अभिनव-गुप्त	वेदान्ती अभि-व्यक्तिवाद	प्रेक्षक का स्थायी-भाव	नट के अनुकरण पर से काव्यार्थ (भाव) का ज्ञान (अभिधा द्वारा) होता है। इस विज्ञात भाव और विभावादि का भावन (साधारणीकरण) व्यञ्जना वृत्ति द्वारा होता है। ऐसा होने पर प्रेक्षकगत संस्कार रूप स्थायी-भाव अभिव्यक्त हो आस्वादित होते हैं।	प्रेक्षक में ही	व्यंग्य-व्यञ्जक भाव	विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के संयोग से (*विज्ञात होकर भावित होने से*) प्रेक्षक के संस्कारों की *अभिव्यक्ति* होती है।

[२] रस का स्वरूप

सत्त्वोद्रेकादखण्ड-स्वप्रकाशानन्द-चिन्मयः ,
वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदरः ।
लोकोत्तर चमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः,
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥

—साहित्यदर्पण ।३। २, ३ ॥

"सत्त्वगुण के प्राधान्य से यह अखण्ड, स्वतः प्रकाशित, आनन्द चिन्मय (आनन्दस्वरूप ज्ञानमय), इतर ज्ञान से रहित, ब्रह्मानन्दसहदर और लोकोत्तर चमत्कार वाला 'रस' सहृदयों के द्वारा अपनी देह की तरह अभिन्न रूप में (अर्थात् ज्ञातृज्ञान के भेद के बिना ही) आस्वादित होता है ।"

आज का वैज्ञानिक निरीक्षण परीक्षण का विश्वासी होकर तत्त्वज्ञान की खोज में संलग्न रहता है; जबकि पुरातन भारतीय मनीषी एकाग्रचित्त होकर अन्तर्दृष्टि के द्वारा विषय का समग्र रूप से दर्शन करते थे । विविध विज्ञानों की दुहाई देकर रस-स्वरूप-सम्बन्धी जो विस्तृत विवेचन किये जा रहे हैं उनमें तथ्य का उतना विशद चित्र नहीं रहता जितना कि विश्वनाथ ने ऊपर के दो संक्षिप्त श्लोकों में रख दिया है । इन श्लोकों की शब्दावली में रस के जो विशेषण दिये गये हैं वे अत्यन्त अर्थपूर्ण हैं, प्रत्येक शब्द के पीछे विस्तृत चिन्ता-राशि का पृष्ठदेश है । सूत्र रूप में कहे गये उपर्युक्त रस-स्वरूप-परिचायक विशेषण हमारे समझने के लिए व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं । इस प्रकार की व्याख्या को आधुनिक विद्वानों ने वैज्ञानिक कसौटी पर रखकर जब परखा तो उसे प्रायः सर्वथा वैज्ञानिक और खरा पाया । हमें भी यहाँ यह देखना है कि रस के स्वरूप की प्राचीन व्याख्या कहाँ तक तर्क-संगत है । प्रथम उन अर्थ-गर्भित विशेषणों को देख लेना सुविधाजनक रहेगा :—

(*iii*) रस ज्ञाप्य नहीं है। होने पर अवश्य अनुभूत होता है क्योंकि वह स्वतः प्रकाशी है। उस पर आवरण नहीं हा सकता। जैसे ज्ञाप्य घट प्रकाशक दीपादि के रहने पर भी ढके हुए होने से अदर्शित ही रहता है, ऐसे रस नहीं।

(*iv*) रस कार्य नहीं। यदि कार्य होता तो विभावादियों के न रहने पर भी उसकी प्रतीति सम्भव होती। जैसे घट अपने 'निमित्त-कारण' दण्डचक्रादि के बाद भी रहता है।

(*v*) रस नित्य भी नहीं। यदि वह नित्य होता तो "रस की अभिव्यक्ति हुई" ऐसा नहीं कहा जाता। साक्षात्कार का विषय होने के कारण भविष्यत्कालिक भी नहीं। तथा कार्य और ज्ञाप्य न होने के कारण उसे 'वर्तमान' भी नहीं कहा जा सकता।

इतनी बातें रस की सर्वथा अलौकिकता एवं अनिर्वचीयता की सिद्धि के लिए काफी हैं।

आधुनिक दृष्टि

अब हमें रस का स्वरूप क्या है, इस समस्या का उत्तर आधुनिक वैज्ञानिकों की दृष्टि मे भी देखना आवश्यक है। क्या आधुनिक विद्वान् भी उन्हीं परिणामों पर पहुँचते हैं जिन पर कि प्राचीन रसवादी स्थिर हुए थे? हमारे सामने प्रश्न का रूप यह है कि काव्य या नाटक से प्राप्त होने वाला आनन्द ऐन्द्रिय है या आध्यात्मिक है, अथवा इन दोनों से विलक्षण किसी अन्य ही प्रकार का है?

अनुभूति को हम स्थूल रूप से तीन प्रकार की मान सकते हैं—(१) ऐन्द्रिय (२) बौद्धिक और (३) आध्यात्मिक। जो लोग आत्मा की ही सत्ता को स्वीकार नहीं करते और अनात्मवादी होने की घोषणा करते हैं, उनकी दृष्टि से अनुभूति दो ही प्रकार की है। उक्त तीनों प्रकार की अनुभूतियों के क्रमशः उदाहरण निम्न प्रकार दिये जा सकते हैं। लौकिक शारीरिक रति या चुम्बन का आनन्द ऐन्द्रिय है। ग्रन्थसमाप्ति पर प्रणेता

को जो आनन्द होता है वह बौद्धिक और योगी का ब्रह्मसाक्षात्कार का आनन्द आध्यात्मिक कहा जा सकता है। अनुभूतिविषयक आत्म और अनात्म वादियों का उक्त विभाजन निम्न प्रकार रख सकते हैं :—

आत्मवादी

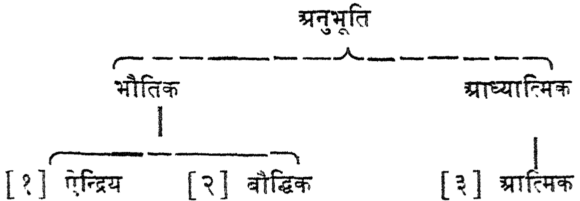
अनुभूति
भौतिक
आध्यात्मिक
[१] ऐन्द्रिय
[२] बौद्धिक
[३] आत्मिक

अनात्मवादी

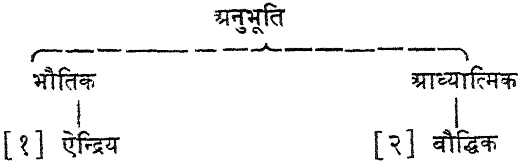
अनुभूति
भौतिक
आध्यात्मिक
[१] ऐन्द्रिय
[२] बौद्धिक

अब हमें देखना है कि काव्यानुभूति इनमें से किस प्रकार की है ? स्वदेश-विदेश के विद्वान् अपनी-अपनी कल्पनाओं और तर्क-प्रणालियों के द्वारा सभी सम्भव मान्यताओं की प्रतिष्ठा कर चुके हैं। तदनुसार काव्यानुभूति सम्बन्धी निम्न तीन मान्यताएँ सामने आती हैं :—

[१] काव्यानुभूति का आनन्द ऐन्द्रिय है। इसके पुरस्कर्ता प्लेटो आदि हैं। उनकी दृष्टि में वह आत्मा (बुद्धि) की सौन्दर्यानुभूति से भिन्न है, अतः निम्न कोटि की है।

[२] काव्यानुभूति का आनन्द आध्यात्मिक है। काव्यसौन्दर्य-रूप आत्मा की अभिव्यक्ति होने से आनन्दमय है, और इसीलिये यह आनन्द आध्यात्मिक है। हीगल और कवीन्द्र रवीन्द्र की यही मान्यता है।

[३] काव्यानुभूति न ऐन्द्रिय है न आध्यात्मिक। इस स्थापना के अन्तर्गत आने वाली मान्यताओं के निम्न तीन प्रकार हैं:—

(*i*) काव्यानन्द न ऐन्द्रिय है न आध्यात्मिक। वह कल्पना का आनन्द है। अर्थात् मूल वस्तु के रूप और कला द्वारा अनुकृत रूप में जो समता है उसके भावन से प्राप्त होने वाला आनन्द है, जो न ऐन्द्रिय है और न आध्यात्मिक। इस मत के प्रस्तोता एडीसन हैं।

(*ii*) काव्यानुभूति न ऐन्द्रिय है न बौद्धिक अपितु इन दोनों की मध्यवर्ती 'सहजानुभूति' है। सहजानुभूति क्या है ? इसकी अपनी विशिष्ट व्याख्या है। इस मत के प्रतिपादक बैनेडेटो क्रोचे हैं। उनके अनुसार मानव-प्राण-चेतना में सहाजानुभूति की एक पृथक् शक्ति होती है। काव्यानुभूति इसी का गुण है। उस शक्ति का निर्माण बौद्धिक धारणाओं और ऐन्द्रिय संवेदनों द्वारा न होकर बिम्बों द्वारा होता है।

(*iii*) काव्यानन्द न ऐन्द्रिय है न आध्यात्मिक। यह एक निरपेक्ष अनुभूति है। इसे हम विशिष्ट प्रकार का अलौकिक आनन्द कह सकते हैं, जिसकी तुलना में किसी भी लौकिक आनन्द को नहीं रखा जा सकता। यह मत प्राचीन है, परन्तु इस युग में ब्रैडले आदि ने इसका मण्डन विशेष रूप से किया है।

यहाँ पर उपयुक्त मान्यताओं की क्रमशः परीक्षा करना आवश्यक है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्यानुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति से भिन्न है; क्योंकि एक साधारण व्यक्ति भी यह जानता है कि नाटक देखने से मुझे आनन्द ही मिलेगा, चाहे वह नाटक दुःखान्त ही क्यों न हो। अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि काव्यानुभूति आनन्दस्वरूप ही होने के कारण लौकिक एवं ऐन्द्रिय सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों से भिन्न है।

अनात्मवादियों के लिए तो काव्यानुभूति को आध्यात्मिक मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त आत्मवादियों को भी काव्या-

नन्द में आध्यात्मिक आनन्द की वह शान्त गम्भीर ध्वनि नहीं सुनाई दे सकती, जिसे योगी लोग प्राप्त करते हैं। योग का उक्त आनन्द स्थायी होता है और काव्यानन्द क्षणिक है। अतः काव्यानन्द आध्यात्मिक भी नहीं कहा जा सकता।

इसी तरह एडीसन के 'कल्पना के आनन्द' और क्रोचे की 'सहजानुभूति' की विचित्र शक्ति को मनोविज्ञान में स्वतन्त्र सत्ता के रूप में स्थान नहीं दिया जा सकता। कल्पना तो मन और बुद्धि की क्रिया है। अतः कल्पना का आनन्द निःसन्देह ऐन्द्रिय आनन्द होगा, जो काव्यानन्द नहीं कहा जा सकता। क्रोचे की सहजानुभूति की शक्ति को भी सभी वैज्ञानिकों ने एकस्वर से अमान्य ठहरा दिया है। अतः उपरोक्त मतों में से कोई भी मत आज के मनोविज्ञान के विद्यार्थी को सन्तोष प्रदान नहीं करता।

केवल अन्तिम मत प्राचीन रस-सिद्धात में वर्णित रस के स्वरूप से मेल खाता है। उसके सम्बन्ध में भी कुछ विद्वानों का निम्न प्रकार आक्षेप है। उनका कहना है कि उक्त मत की मान्यता की स्वीकृति के लिए विपुल श्रद्धा की आवश्यकता है जो वैज्ञानिक के पास नहीं होती। श्रद्धावश काव्यानन्द को अलौकिक, लोकोत्तर और अनिर्वचनीय कहते रहने से तथ्य का उद्घाटन नहीं होता। यह तो एक प्रकार से समस्या को छोड़कर पलायन है। ये विद्वान् काव्यानुशीलन और नाटक देखने की दशाओं का स्वतन्त्र रूप से पर्यवेक्षण करते हुए सर्वथा स्वतन्त्र मत की स्थापना करते हैं। उनकी दृष्टि से रतिकाल में व्यक्ति की चित्त की विद्रुति और रोमाञ्च आदि जिस प्रकार के संवेदन होते हैं, वैसे ही संवेदन नाटक देखते समय भी अवश्य होते हैं। ये सब ऐन्द्रिय ही हैं। अतः यह बात प्रत्यक्ष है कि काव्यानुभूति में ऐन्द्रिय अंश अवश्य रहता है। यह बात दूसरी है कि यह ऐन्द्रियता किस प्रकार की है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि ऐन्द्रिय आनन्द और काव्यानन्द में समता होने पर भी एक प्रकार की

भिन्नता अवश्य है। यह भिन्नता सिर्फ प्रत्यक्षता एवं तीव्रता की ही कही जा सकती है। प्रथम अवस्था में चुम्बन आदि द्वारा प्राप्त होने वाला आनन्द प्रत्यक्ष और तीव्रतर है। काव्यानन्द में उतनी प्रत्यक्षता और तीव्रता नहीं रहती। इसका कारण यह है कि काव्यानुभूति प्रत्यक्ष मूल घटना की अनुभूति नहीं है। मूल घटना का कवि को सर्वप्रथम इन्द्रिय सन्निकर्ष या कल्पनात्मक सन्निकर्ष होता है। तदनन्तर कवि उसका भावन करता है। इस भावित घटना का भावन दर्शक करता है। भावन में दोनों को बुद्धि व मन का उपयोग करना होता है। अतः दर्शक या पाठक की अनुभूति भावित (Contemplated) घटना पर निर्भर रहती है जिससे उसे भावित अनुभूति कहते हैं। और उसकी यह भावित अनुभूति सूक्ष्म और प्रत्यक्ष ही होती है। इस प्रकार वे इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि काव्यानुभूति है तो ऐन्द्रिय अनुभूति ही, पर वह भावित अनुभूति है।

भावित अनुभूति का तात्पर्य केवल इतना है कि उसमें प्रत्याक्षानुभूति जैसी स्थूलता एवं तीव्रता नहीं होती। अनुभूति का स्वरूप भी यह कहकर स्पष्ट किया जा सकता है कि वह संवेदनात्मक होती है, अर्थात् काव्यानुभूति के संवेदन मानसिक संवेदनों से सूक्ष्मतर और विश्लेषणात्मक-बौद्धिक संवेदनों से कुछ अधिक स्पष्ट होते हैं। इस प्रकार उक्त विद्वानों के इस विवेचनका सारांश यह निकला कि काव्यानुभूति का आनन्द बौद्धिक और ऐन्द्रिय अनुभूतियों के अन्तर्गत संवेदन रूप ही है। परन्तु संवेदन स्थूल और प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म ओर बिम्ब रूप होते हैं।

यह विवेचन नया नहीं। इसी मार्ग का अनुसरण करते हुए प्राचीन आचार्य भी यहीं पहुँचे थे। उन्होंने देखा कि अन्य अनुभूतियों की तरह जब काव्यानुभुति भी ऐन्द्रिय है तो फिर वही समस्या सामने आती है कि कटु संवेदनों से कटु अनुमूति क्यों नहीं होती ? उक्त आधुनिक वैज्ञानिक तो यह कहकर कि काव्यानुभूति भावित होने से व्यवस्थित हो

जाती है; फलतः उसमें कटु संवेदनों से भी मधुर अनुभूति उपलब्ध होती है; समस्या को एक प्रकार से टाल देते हैं। अथवा उनके इस उत्तर पर भी यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अनजाने रूप से आधुनिक शब्दावली में 'अनिर्वचनीयता' का ही प्रतिपादन कर डाला। कारण यह है पाश्चात्य विज्ञान का जन्म 'चर्च' के बिरोध में होने के कारण वह अलौकिक, अनिर्वचनीय आदि जैसी चीज़ों को ज़्यादा महत्त्व नहीं देता; वह उसमें धार्मिकता रूप अवैज्ञानिकता की गन्ध पाता है। विज्ञान प्रत्येक वस्तु को अपनी व्याख्या के अन्तर्गत लाने की चेष्टा कर अपनी विजय-दुन्दुभि का सिक्का जमाना चाहता है। फिर चाहे वह व्याख्या हास्यास्पद ही क्यों न हो जाये। रसानुभूति जैसी प्रक्रिया के सम्बन्ध में यह पूछे जाने पर कि यहाँ कारण के गुण कार्य में देखे जाने के व्यापक नियम का व्यतिक्रमण क्यों हुआ—यह उत्तर देना कि व्यवस्थित होने से ऐसा हो गया, स्पष्ट तथा छिपे रूप से अनिर्वचनीयता का ही प्रतिपादन है।

प्राचीन आचार्यों ने रस की इस अनिर्वचनीयता में अध्यात्म की सी गन्ध पाई। अतः वे इसके अध्यात्म पक्ष की ओर झुक पड़े और कह उठे कि काव्यानन्द ब्रह्मानन्द तो नहीं, पर ब्रह्मानन्द का सहोदर है। अतः रस एक ओर ऐन्द्रियता की सीमा को स्पर्श करता है तो दूसरी ओर अध्यात्म से जा मिलता है। अतः आनन्दमय ही होने से वह स्पष्टतया अलौकिक एवं अनिर्वचनीय है। उनकी दृष्टि से रस के स्वरूप की कुछ ऐसी विलक्षणता है जिसके कारण उसे किसी लौकिक शब्दावली की भाषा में नहीं बाँधा जा सकता। उन्होंने काव्यानन्द को अपनी तरह का एक ही पाया, अतः उसे लोकोत्तर, चमत्कार-प्राण आदि कहा। अतः हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्राचीनों ने रस के स्वरूप के स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में जो लोकोत्तर और अनिर्वचनीय आदि विशेषण कहे हैं वे ही उसका स्वरूप स्पष्ट कर जाते हैं। यह कहना कि "ऐसा

कहकर समस्या को सुलझाना नहीं, पलायन है" विशेषणों की गहराई तक न पहुँचना है। यदि विशेषणों की गहराई पर ध्यान दिया जाय तो समस्या सुलझी हुई दीखेगी।

इन दोनों दृष्टिकोणों को तुलनात्मक रूप से देखा जाय तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि रस का स्वरूप दोनों पक्षों में एक ही स्थिर किया गया है, अर्थात् इन्द्रियानन्द से कुछ अधिक और आध्यात्मिक आनन्द से कम। अन्तर केवल इतना है कि उस स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए जो शब्दावली ग्रहण की गई है वह भिन्न-भिन्न है।

प्राचीनों ने रस-स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए जो विशिष्ट शब्दावली ग्रहण की है उसकी उपयुक्ता और वैज्ञानिकता निम्न दो कारणों से और भी पुष्टि होती है:—

(*i*) एक तो रस अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है। इस तथ्य की सिद्धि के लिए किसी लम्बे-चौड़े तर्क की आवश्यकता नहीं। सभी का अनुभव है कि सत्काव्य के अनुशीलन या नाटक को देखने से आनन्द ही प्राप्त होता है। उस समय सांसारिक द्विविधाओं में संलिप्त व्यक्ति भी सुखसागर में निमग्न हो नोन-तेल की चिन्ता-व्याधियों से मुक्त हो जाता है।

(*ii*) और दूसरे यह कि रस भाव से पृथक् है, इसी कारण करुण और वीभत्स रस क्रमशः शोक और जुगुप्सा से पैदा होने पर भी ग्राह्य ही बने रहते हैं। इसी प्रकार श्रृंगार रस शारीरिक रति नहीं है। परन्तु इतना निश्चित है कि रस अपने भावों से सम्वद्ध अवश्य है; रतिभाव से श्रृंगार रस ही निष्पन्न हो सकता है।

संक्षेपतः यही कहा जा सकता है कि आधुनिक विद्वान् अपनी वैज्ञानिक शब्दावली में रस के जिस स्वरूप को प्रकट करते हैं, प्राचीन संस्कृत-साहित्य में उसी को एक अर्थगर्भित आध्यात्मिक शब्दावली में रखा गया है।